श्री चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत

पंचसंग्रह

[उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रवर्तक मरुधरकेसरी

श्री मिश्रीमल जी महाराज

दिशा निदेशक

मरुधरारत्न प्रवर्तक मुनिश्री रूपचन्दजी म० 'रजत'

सम्प्रेरक

मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्म-सिद्धान्त का सर्वांगीण तथा प्रामाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अनेक क्षेत्रों से आज उनकी मांग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तारपूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन हुआ है।

पूज्य गुरुदेव श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र रुचि अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक रुचि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी वृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३९ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया 'मेरे शरीर का कोई भी भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर लो'। उस समय यह बात सामान्य लग रही थी। किसे ज्ञात था कि गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि १७ जनवरी १९८४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा श्रमणसंघ ही अपूरणीय क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना श्रम किया और जिसके प्रकाशन की भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य मरुधराभूषण श्री सुकनमुनि जी महाराज के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन मुद्रण सम्बन्धी सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष रखेंगे, यह दृढ़ विश्वास है।

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान अपने कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर सम्पन्न करवाने में प्रयत्नशील है।

आशा है जिज्ञासु पाठक लाभान्वित होंगे।

मन्त्री

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान

जोधपुर

आमुख

जैनदर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल-भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुख में चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रपञ्च में पड़ रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है—कम्मं च जाई मरणस्स मूलं। भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहाँ ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्व वैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसके साथ संबद्ध कर्म को माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष-वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्ता को भी अपने बन्धन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का

यह मुख्य बीज कर्म क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तर-वर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूँथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए वह अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह इन दोनों ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें जैनदर्शन-सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में हैं और इनकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इनका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में कर्मग्रन्थ के छह भागों का विवेचन कुछ वर्ष पूर्व ही परम श्रद्धेय गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में प्रकाशित हो चुका है, सर्वत्र उनका स्वागत हुआ। पूज्य गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में पंचसंग्रह (दस भाग) का विवेचन भी हिन्दी भाषा में तैयार हो गया और प्रकाशन भी प्रारम्भ हो गया, किन्तु उनके समक्ष एक भी नहीं आ सका, यह कमी मेरे मन को खटकती रही, किन्तु निरुपाय ! अब गुरुदेवश्री की भावना के अनुसार ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। आशा है, इससे सभी लाभान्वित होंगे।

—सुकनमुनि

सम्पादकीय

श्रीमद्देवेन्द्रसूरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षि महत्तरकृत 'पंचसंग्रह' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पंचसंग्रह को भी सर्वजन सुलभ, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से तत्काल तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सका। परन्तु विचार तो था ही और पाली (मारवाड़) में विराजित पूज्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पंचसंग्रह को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया—विचार प्रशस्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ ग्रन्थ की गुरुता और गम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैःकंथा' की गति से करते-करते आधे से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चातुर्मास तक तैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव व्यक्त कर फरमाया चरैवेति-चरैवेति।

इसी बीच शिवशर्मसूरि विरचित 'कम्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान सुगमता से होता गया।

अर्थबोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, मतान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस सम्पन्न कार्य की सम्पन्नता पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थ कृतज्ञ हूं। साथ ही मरुधरारत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुधराभूषण श्री सुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलसुखभाई मालवणिया का सस्नेह आभारी हूं। साथ ही वे सभी धन्यवादार्ह हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और ध्यान रखा है कि सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अन्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। फिर भी यदि कहीं चूक रह गई हो तो विद्वान पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्खलना मानकर त्रुटि का संशोधन, परिमार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुझे ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अनुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अवलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनम्र श्रद्धांजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्प्यते।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला
बीकानेर, ३३४००१

विनीत
देवकुमार जैन

प्राक्कथन

पंचसंग्रह के इस अधिकार में उपशमना, निद्धत्ति और निकाचना इन तीन करणों की प्ररूपणा की गई है। यद्यपि उपशमना, निद्धत्ति और निकाचना रूप स्थिति कर्मदलिकों की बनती है, परन्तु उस प्रकार की स्थिति बनने में जीव के परिणाम कारण होने से इस अर्थ का बोध कराने के लिये उनके साथ करण शब्द का प्रयोग किया है।

इन तीनों में मुख्य उपशमनाकरण है। इस उपशमनाकरण के दो भेद हैं—सर्वोपशमना और देशोपशमना। देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना में प्रायः समानता है परन्तु निद्धत्त हुए कर्म में उद्वर्तना और अपवर्तना यह दो करण ही प्रवर्तित होते हैं और निकाचित में कोई करण प्रवर्तित नहीं होता। यह कर्मों की दशा आत्म-परिणामों की परिणतिविशेष में संभव होने के कारण इनका पृथक से वर्णन किया जाता है।

देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की होती है तथा मूल प्रकृतियों और उत्तरप्रकृतियों की अपेक्षा क्रमशः आठ और एकसौ अट्ठावन प्रकार से होती है और स्वामी आदि भी प्रायः समान हैं। लेकिन सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। यह यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति—इन तीन करणों द्वारा होने से सर्वोपशमना कहलाती है। करणकृत होने से ही आत्मा अपने स्वरूप की उपलब्धि करती है। इसलिये यह महत्वपूर्ण है और इसका विस्तार से वर्णन किया है।

विषय प्रवेश के रूप में जिसका परिचय इस प्रकार है—

सर्वप्रथम करणकृत और अकरणकृत इस प्रकार से उपशमना के दो प्रकारों को बतलाकर दोनों के सार्थक पर्यायवाची नाम बताये हैं।

अकरणकृत उपशमना का संप्रदाय विच्छिन्न हो जाने से मुख्यतया करणकृत उपशमना का विचार किया है। इस करणकृत उपशमना का अपरनाम सर्वोपशमना है और यह सिर्फ मोहनीयकर्म की होती है।

सर्वोपशमना का विस्तार से वर्णन १ सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा, २ देशविरतिलाभ, ३ सर्वविरति लाभ, ४ अनन्तानुबंधि-विसंयोजना, ५ दर्शनमोहनीय क्षपणा, ६ दर्शनमोहनीय उपशमना, ७ चारित्रमोहनीय उपशमना —इन सात द्वारों द्वारा किया गया है। यद्यपि देशविरतिलाभ आदि चार द्वारों में मोहनीय-कर्म की किसी भी प्रकृति की सर्वथा उपशमना नहीं होती है, फिर भी सर्वोपशमना के प्रसंग में उनको ग्रहण इसलिये किया है कि चारित्र-मोहनीय की उपशमना देश और सर्व विरति की प्राप्ति होने के बाद ही होती है तथा अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करने के बाद ही चारित्र मोहनीय की उपशमना होती है और दर्शनत्रिक का क्षय करने के बाद भी चारित्रमोहनीय की उपशमना होती है। इसीलिये इन चार द्वारों का भी सर्वोपशमना के प्रसंग में ग्रहण किया है। अन्यथा मूल मतानुसार तो सर्वोपशमना के सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा, दर्शनत्रिक उपशमना, चारित्रमोहनीय उपशमना ये तीन और अन्य आचार्यों के मतानुसार अनन्तानुबंधि की उपशमना सहित चार द्वार हैं। ऐसा वर्णन से प्रतीत होता है।

यह सब कथन करने के बाद प्रथम सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का निर्देश किया है।

प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न करने वाले जीव की योग्यता को बतलाया है कि सर्व पर्याप्तियों से पर्याप्त, उपशमलब्धि, उपदेश श्रवणलब्धि और प्रयोगलब्धि से युक्त संज्ञीपंचेन्द्रियजीव सम्यक्त्व उत्पन्न करने का अधिकारी है।

अनन्तर यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति इन तीन करणों की विस्तृत व्याख्या की है। अपूर्वकरण का स्वरूप बतलाने के प्रसंग में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और बधकाद्धा (अपूर्व स्थितिबंध) का

विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। यही चार पदार्थ अनिवृत्तिकरण में भी होते हैं और अनिवृत्तिकरण काल का संख्यातवां भाग शेष रहने पर स्थिति का अन्तरकरण होता है। अतरकरण होने पर नीचे और ऊपर की स्थिति—इस प्रकार से स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। नीचे की स्थिति को प्रथमस्थिति और ऊपर की स्थिति को द्वितीयस्थिति कहते हैं। बीच की भूमिका शुद्ध होती है। जिसमें कोई भी दलिक भोगने योग्य नहीं रहता है। इसी समय प्रथमोपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। जिसका काल अतर्मुहूर्त है।

उपशांताद्धा के अंत में अध्यवसायों के अनुसार सम्यक्त्वपुंज का उदय होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को, मिश्रपुंज का उदय होने पर मिश्रगुणस्थान को और मिथ्यात्वपुंज का उदय होने पर मिथ्यात्व-गुणस्थान की प्राप्ति होती है तथा उपशमसम्यक्त्व काल में एक समय यावत् छह आवलिका काल शेष रहने पर अशुभ परिणाम होने से कोई सासादनभाव को भी प्राप्त होता है और उसके बाद वहाँ से गिरकर अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त करता है।

इस प्रकार से प्रथम सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का सांगोपांग विवेचन करने के बाद चारित्रमोहनीय-उपशमना प्ररूपणा का कथन प्रारंभ किया है। सर्वप्रथम देशविरति, सर्वविरति लाभ और स्वामित्व को बतलाने के बाद अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरति और सर्वविरति का स्वरूप बतलाया है।

अनन्तर क्रमप्राप्त अनन्तानुबंधि-विसंयोजना की तथा जो आचार्य अनन्तानुबंधि की उपशमना मानते हैं, उनके मतानुसार उपशमना प्ररूपणा की है।

तत्पश्चात् दर्शनमोहक्षपण का विस्तार से वर्णन किया है और अंत में बतलाया है कि क्षायिक सम्यक्त्वी कितने भव में मोक्ष प्राप्त करता है—इसके बाद चरित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व

एवं दर्शनमोहनीयत्रिक की उपशमना-विधि का निरूपण किया है। फिर चारित्रमोहनीय की उपशमना विधि का यथाक्रम से वर्णन किया है। साथ में अश्वकर्णकरण में करने योग्य का एवं किट्टियों के स्वरूप का और किट्टियों के रस और प्रदेश के अल्पबहुत्व का वर्णन किया है।

चारित्रमोहनीय के उपशम होने की पूर्णता ग्यारहवें उपशान्त-मोहगुणस्थान में होती है। अतएव इस गुणस्थान का विस्तार से स्वरूप वर्णन किया है और इसके बाद पतनकर अबद्धायुष्क जीव विलोम क्रम से नीचे-नीचे छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में और उसके बाद पतन कर पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है और आरोहण करते समय जिस क्रम से जिस-जिस गुणस्थान में जिन-जिन प्रकृतियों का विच्छेद हुआ था, उसी क्रम से अवरोहण करते समय यथाक्रम से उस-उस गुणस्थान के प्राप्त होने पर उन-उन प्रकृतियों के बंधादि होने का कारण सहित स्पष्टीकरण किया है।

इसके बाद स्त्री और नपुंसक वेदोदय की अपेक्षा उपशमश्रेणियाँ होने का निरूपण करके सर्वोपशमना का वर्णन पूर्ण हुआ।

इस प्रकार से करणकृत उपशमना का निर्देश करने के बाद अकरणकृत उपशमना—देशोपशमना की व्याख्या की है कि यह प्रकृति, स्थिति आदि के भेद से चार प्रकार की है और ये चारों भेद भी मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से दो-दो प्रकार के हैं तथा देशोपशमना द्वारा शमित दलिकों में उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रम यह तीन करण होते हैं, शेष करण लागू नहीं होते हैं तथा अपूर्वकरण गुणस्थान तक के जीव ज्ञानावरणादि सभी आठों मूल और एकसौ अट्ठावन उत्तर प्रकृतियों की देशोपशमना के स्वामी हैं। फिर प्रकृतियों और प्रकृतिस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा करके प्रकृति देशोपशमना का वर्णन समाप्त हुआ। इसी प्रकार से स्थिति, अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना की प्ररूपणा करके उपशमनाकरण की विवेचना पूर्ण की।

तदनन्तर प्रायः देशोपशमना जैसे निद्धत्ति और निकाचना इन दो करणों की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन करके बंधनकरण से प्रारंभ हुए कर्म-प्रकृति विभाग के आठ करणों की प्ररूपणा समाप्त की है।

उपशमनादि करणत्रय का समस्त विवेचन एक सौ चार गाथाओं में पूर्ण हुआ है।

यह वर्ण्य विषय की संक्षिप्त रूपरेखा है। विशेष जानकारी के लिये अधिकार का सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक है।

खजांची मौहल्ला
बीकानेर ३३४००१

—देवकुमार जैन

विषयानुक्रमणिका

गाथा १ ३—५

उपशमना के प्रकार ३

देशोपशमना और सर्वोपशमना के पर्यायवाची नाम व नामकरण का कारण ४

देशोपशमना के प्रकार ४

सर्वोपशमना के अर्थाधिकार ५

गाथा २,३,४ ५—८

प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीव की योग्यता ६

गाथा ५ ८

करणत्रय के नाम ८

गाथा ६ ८—१०

यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण का विवेचन ८

उक्त करणत्रय का प्रारूप १०

गाथा ७ ११—१२

प्रथम दो करणों में विशुद्धि का स्पष्टीकरण ११

अनिवृत्तिकरण में विशुद्धि का स्पष्टीकरण १२

गाथा ८,९ १२—१६

यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि का तारतम्य १३

गाथा १० १६—१७

अपूर्वकरण की विशुद्धि का स्पष्टीकरण १६

गाथा ११ १८
अपूर्वकरण की अन्य विशेषताओं के नाम १८
गाथा १२ १९—२०
स्थितिघात की व्याख्या १९
गाथा १३ २०—२१
रसघात का विवेचन २१
गाथा १४ २२—२३
गुणश्रेणि की व्याख्या २२
गाथा १५ २४
अपूर्व स्थितिबंध का स्वरूप २४
गाथा १६,१७,१८ २४—२५
अनिवृत्तिकरण का निरूपण २५
गाथा १९,२०,२१ २७—३०
अन्तरकरण की विधि २८
गाथा २२,२३,२४,२५,२६,२७,२८ ३०—३६
उपशम सम्यक्त्व के पश्चात् की स्थिति ३१
गाथा २९ ३७
देशविरति सर्वविरति लाभ स्वामित्व ३७
गाथा ३०,३१,३२,३३ ३७—४४
अविरत सम्यग्दृष्टि आदि का स्वरूप एवं तत्संबन्धी विशेष वक्तव्य ३८
गाथा ३४,३५ ४४—५१
अनन्तानुबंधि की विसंयोजना ४५
अनन्तानुबंधि की उपशमना (मतान्तर) ४६
गाथा ३६,३७,३८,३९,४०,४१,४२,४३,४४,४५,४६ ५२—६३
दर्शनमोह की क्षपणाविधि ५२

गाथा ४७ ६३—६५
क्षायिक सम्यक्त्वी का मुक्तिगमन ६३
चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व ६४
गाथा ४८,४९ ६५—६७
दर्शनत्रिक की उपशमना विधि ६६
गाथा ५०,५१,५२,५३,५४,५५,५६,५७,५८,५९,६० ६७—८०
चारित्रमोहनीय की उपशमना विधि ६७
गाथा ६१ ८१—८२
संज्वलनकषायचतुष्क और वेदत्रिक का स्वोदयकाल ८१
गाथा ६२,६३,६४ ८२—८५
अन्तरकरण के साथ और अनन्तर संभव कार्य ८३
गाथा ६५,६६,६७ ८५—८८
अन्तरकरण में प्रविष्ट जीवों के नवीन स्थितिबंध का स्पष्टीकरण ८७
गाथा ६८ ८८
हास्यषट्क के उपशांत होने के अनन्तर पुरुषवेद के अनुपशांत दलिक का प्रमाण ८८
गाथा ६९,७० ८९—९१
पूर्वोक्त का स्पष्टीकरण ८९
गाथा ७१,७२ ९१—९६
अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की उपशमना ९२
गाथा ७३ ९६—९८
उपशमश्रेणि में संज्वलन क्रोधादि का उदय के चरम समय में जघन्यस्थितिबंध प्रमाण ९७
गाथा ७४ ९८—१००
संज्वलनलोभ की वक्तव्यता ९९

गाथा ७५ १००—१०१
अश्वकर्णकरणाद्धा में करणीय १००
गाथा ७६ १०१—१०२
किट्टियों का स्वरूप १०२
गाथा ७७,७८,७९ १०२—१०७
किट्टियों संबन्धी पूर्वोक्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण १०३
किट्टियों के रस और प्रदेश का अल्पबहुत्व १०६
गाथा ८० १०७—१०८
संज्वलन लोभ की पतद्ग्रहता न रहने पर शेष लोभद्वय का स्वस्थान में उपशमन १०८
गाथा ८१,८२,८३ १०८—११३
किट्टिकरणाद्धा के चरम समय में संभव कार्य १०९
गाथा ८४,८५ ११३—११७
उपशांतमोहगुणस्थान का स्वरूप ११४
उपशांतमोहगुणस्थान से पतन का क्रम ११७
गाथा ८६,८७,८८,८९,९०,९१,९२,९३ ११८—१२६
पतनोन्मुखी उपशांतमोही की दलरचना आदि का स्पष्टीकरण ११८
गाथा ९४ १२६—१२७
स्त्री-नपुंसक वेदोदयापेक्षा उपशमश्रेणि विधि १२६
गाथा ९५,९६ १२८—१२९
देशोपशमना का स्वरूप, स्वामी १२९
गाथा ९७ १२९—१३०
देशोपशमना स्वामित्व विषयक विशेष १३०
गाथा ९८ १३१—१३२
सादि-अनादि प्ररूपणा १३१

गाथा ९९ १३२—१३५
प्रकृतिस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा १३२
गाथा १०० १३५—१३६
स्थिति देशोपशमना १३५
गाथा १०१ १३७—१३९
अनुभाग-प्रदेश देशोपशमना १३७

निद्धत्ति-निकाचनाकरण

गाथा १०२ १३९—१४०
निद्धत्ति और निकाचनाकरण प्ररूपणा १३९
गाथा १०३ १४०
देशोपशमना आदि में प्रदेशों का अल्पबहुत्व १४०
गाथा १०४ १४१
आठों करणों के अध्यवसायों का अल्पबहुत्व १४१

परिशिष्ट

उपशमनादि करणत्रय प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ १४२
प्रकरणगत गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका १५१
सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का सारांश १५३
अनन्तानुबंधि की विसंयोजना एवं उपशमनासबन्धी विधि १६५
दर्शनत्रिक की उपशमना विधि १६७
दर्शनत्रिक क्षपणा की विधि १६९
चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व १७४
चारित्रमोहनीय की सर्वोपशमना विधि का संक्षिप्त सारांश १७६
भिन्न भिन्न कषाय और वेद के उदय से श्रेणि आरोहण क्रम १९३

श्रीमदाचार्य चन्द्रर्षिमहत्तर-विरचित

पंचसंग्रह

(मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त)

उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार

८

६ उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार
(उपशमना-निधत्ति-निकाचना करण)

उदीरणाकरण का विस्तार से विवेचन करने के पश्चात् अब उपशमनादि तीन करणों का अनुक्रम से प्रतिपादन करते हैं। उपशमनाकरण का आद्य गाथा सूत्र इस प्रकार है—

देसुवसमणा सव्वाण होइ सव्वोवसामणा मोहे।
अपसत्था पसत्था जा करणुवसमणाए अहिगारो ॥१॥

शब्दार्थ—**देसुवसमणा**—देशोपशमना, **सव्वाण**—सबकी, **होइ**—होती है, **सव्वोवसामणा**—सर्वोपशमना, **मोहे**—मोहनीय कर्म की, **अपसत्था**—अप्रशस्त, **पसत्था**—प्रशस्त, **जा**—जिनके, **करणुवसमणाए**—करणोपशमना का, **अहिगारो**—अधिकार।

गाथार्थ—देशोपशमना सब आठों कर्मों की और सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। जिनके अनुक्रम से अप्रशस्त और प्रशस्त ये अपरनाम हैं। यहाँ करणोपशमना के विचार का अधिकार है।

विशेषार्थ—गाथा में उपशमना की रूपरेखा प्रस्तुत की है कि—

उपशमना के दो प्रकार हैं—१ देशोपशमना २ सर्वोपशमना। उनमें से देशोपशमना समस्त यानी आठों कर्म प्रकृतियों की होती है, किन्तु सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की होती है। देशोपशमना के देशोपशमना, अनुदयोपशमना, अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना तथा सर्वोपशमना के सर्वोपशमना, उदयोपशमना, गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना ये पर्यायवाची नाम हैं।

उक्त पर्यायवाची नामकरण होने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सत्ता में रहे हुए कर्मदलिकों को ऐसी स्थिति में स्थापित करना कि जिनमें उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रम के सिवाय अन्य कोई करण नहीं लगे। देशोपशमना को सर्वोपशमना की तरह सर्वथा और असंख्यात गुणाकार रूप से दलिकों की उपशमना नहीं होने से देशोपशमना और अगुणोपशमना कहते हैं। जिसका देशोपशम हुआ हो, उसका उदय भी हो सकता है, इसीलिये अनुदयोपशम ऐसा भी नाम है तथा सर्वोपशम होने के बाद जैसे गुण का पूर्णरूपेण स्वरूप प्रगट होता है, वैसा देशोपशमना में नहीं होता है, इसीलिये देशोपशमना को अप्रशस्तोपशमना भी कहते हैं।

सर्वोपशमना को प्रशस्तोपशमना आदि कहने का कारण यह है—सत्ता में विद्यमान द्वितीय स्थितिगत दलिक अन्तरकरण करने के बाद पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से उपशांत करके इस प्रकार की स्थिति में स्थापित किया जाता है कि जिसमें संक्रमादि कोई भी करण लागू नहीं पड़ता है और न अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उदय भी होता है। इसीलिये उसे सर्वोपशमना और उदयोपशमना कहा जाता है। उपशमन क्रिया प्रारम्भ होने के बाद प्रतिसमय असंख्यात-असंख्यातगुण दलिक उपशमित होते हैं, इसीलिये गुणोपशमना यह भी नाम है और सर्वोपशमना होने के बाद वह कर्म जिस गुण को आवृत करता है वह गुण सम्पूर्ण रूप से अनावृत हो जाता है, इसीलिये प्रशस्तोपशमना यह चौथा पर्याय नाम है।

देशोपशमना दो प्रकार से होती है—१ यथाप्रवृत्त आदि करण पूर्वक और २ करण के सिवाय। किन्तु सर्वोपशमना तो यथाप्रवृत्तादि तीन करणों[1] से ही होती है और उनके द्वारा की जाने वाली उपशमना करणकृत उपशमना कहलाती है।

---

१ यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण हैं। इनका स्वरूप आगे बताया जा रहा है।

पर्वतीय नदी के पत्थर के स्वयमेव गोल होने के न्याय से संसारी जीवों को यथाप्रवृत्तादि करणों से साध्य क्रियाविशेष के बिना ही वेदन-अनुभव आदि कारणों से हुए प्रशस्त परिणामों द्वारा जो उपशमना होती है, वह करणरहित—अकरणोपशमना कहलाती है। इस अकरणोपशमना का अनुयोग—व्याख्यान—वर्णन वर्तमान में उसके स्वरूप के ज्ञाता के अभाव में विच्छिन्न—नष्ट हो गया है। इसलिये करण द्वारा सम्पाद्य प्रशस्त एवं अप्रशस्त उपशमनाओं के विचार का यहां अधिकार है। उनमें भी विशेष कथनीय होने से प्रथम सर्वोपशमना का विचार करते हैं। उसके विचार के निम्नलिखित अर्थाधिकार-विषय हैं—

१ प्रथमसम्यक्त्वोत्पादप्ररूपणा, २ देशविरतिलाभप्ररूपणा, ३ सर्वविरतिलाभ प्ररूपणा, ४ अनन्तानुबंधिविसंयोजना, ५ दर्शनमोहनीयक्षपणा, ६ दर्शनमोहनीयोपशमना और ७ चारित्रमोहनीयोपशमना।

उक्त सात विषयों में से प्रथम सम्यक्त्व कैसे—किस क्रम से उत्पन्न होता है? उसका विचार करते हैं।

प्रथम सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा

सव्वुवसमणजोग्गो पज्जत्त पणिंदि सण्णि सुभलेसो।
परियत्तमाणसुभपगइबंधगोऽतीव सुज्झंतो ॥ २ ॥
असुभसुभे अणुभागे अणंतगुणहाणिवुड्ढिपरिणामो।
अन्तोकोडाकोडीठिइओ आउं अबंधंतो ॥ ३ ॥
बन्धादुत्तरबन्धं पलिओवमसंखभागऊणूणं।
सागारे उवओगे वट्टन्तो कुणइ करणाइं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—**सव्वुवसमणजोग्गो**—सर्वोपशमना के योग्य, **पज्जत्त**—पर्याप्त, **पणिंदि**—पंचेन्द्रिय, **सण्णि**—संज्ञी, **सुभलेसो**—शुभ लेश्या वाला, **परियत्तमाणसुभपगइबंधगो**—परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का बंधक, **अतीवसुज्झंतो**—अत्यन्त शुद्ध।

असुभसुभे—अशुभ और शुभ प्रकृतियों के, **अणुभागे**—अनुभाग-रस को, **अणंतगुणहाणिवुड्ढिपरिणामो**—क्रमशः अनन्त गुणहीन और वृद्धिपरिणाम वाला

बांधता हुआ, **अन्तोकोडाकोडीठिइओ**—अन्तःकोडाकोडी स्थिति वाला, **आउं**—आयु को, **अबंधंतो**—नहीं बांधता हुआ।

बन्धादुत्तरबंध—उत्तरोत्तर बंध को, **पलिओवमसंखभागऊणग**—पल्योपम के संख्यातवें भाग न्यून करता हुआ, **सागारेउवओगे**—साकारोपयोग में, **वट्टन्तो**—वर्तमान, **कुणइ**—करता है, **करणाइं**—करणों को।

गाथार्थ—सर्वोपशमना के योग्य, पर्याप्त, पंचेन्द्रिय संज्ञी, शुभ लेश्या वाला, परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का बंधक, अत्यन्त शुद्ध तथा अशुभ और शुभ प्रकृतियों के अनुभाग को उत्तरोत्तर क्रमशः अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण वृद्धि रूप से बाँधता हुआ, उत्तरोत्तर बंध को पल्योपम के संख्यातवें भाग न्यून बाँधने वाला और साकारोपयोग में वर्तमान जीव मिथ्यात्व का सर्वोपशम करने के लिये करणों को करता है।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में सर्वप्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीव की योग्यता आदि का उल्लेख किया है—

मिथ्यात्व की सर्वोपशमना के योग्य—सक्षम समस्त पर्याप्तियों से पर्याप्त, १—उपशमलब्धि (मिथ्यात्वमोहनीयकर्म को सर्वथा शांत करने की योग्यता वाला एवं जिसके भव्यत्वभाव का परिपाक हो चुका है) २—उपदेशश्रवणलब्धि (उपदेश श्रवण करने की योग्यता) और ३—प्रयोगलब्धि (मनोयोग, वचनयोग और काययोग में से कोई भी एक योग युक्त) इन तीन लब्धियों (शक्तियों) में युक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय है।

वह करणकाल के पूर्व भी—यथाप्रवृत्त आदि करण प्रारम्भ करने के पहले भी अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त शुभलेश्या वाला (तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या में से कोई एक शुभ लेश्या युक्त) होता है और परावर्तमान पुण्यप्रकृतियों को बाँधता है। यह उपशमसम्यक्त्व चारों गति के जीव उत्पन्न कर सकते हैं। यदि तिर्यंच और मनुष्य प्रथमसम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं तो वे देवगतिप्रायोग्य देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियशरीर, वैक्रियअंगोपांग, प्रथमसंस्थान, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायो-

गति, त्रसदशक, सातावेदनीय, उच्चगोत्र रूप परावर्तमान इक्कीस प्रकृतियां बाँधते हैं और यदि नारक और देव हैं तो वे मनुष्यगति-प्रायोग्य मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, प्रथमसंहनन, प्रथमसंस्थान, औदारिकद्विक, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रसदशक, सातावेदनीय और उच्चगोत्र रूप परावर्तमान बाईस प्रकृतियों को बाँधते हैं। परन्तु इतना विशेष है कि मात्र सातवीं नरकपृथ्वी का नारक भवस्वभाव से ही पहले और दूसरे गुणस्थान में तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध करने वाला होने से प्रथमसम्यक्त्व उत्पन्न करते हुए भी अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का ही बंध करता है। यानि वह तिर्यंचद्विक और नीचगोत्र कर्म का बंध करता है। इनके सिवाय शेष प्रकृतियां जो पूर्व में बताई हैं, उन्हीं को बाँधता है।

उत्तरोत्तर समय में अनन्तगुण विशुद्धि से बढ़ता हुआ शुभ अध्यवसाय वाला चारों गतियों में से किसी भी गति का जीव हो सकता है तथा अशुभप्रकृतियों के अनुभाग को अनुक्रम से अनन्तगुण हीन करता हुआ और पुण्यप्रकृतियों के रस को अनन्तगुण बढ़ाता हुआ तथा आयुकर्म के सिवाय सातों कर्मों की अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण स्थिति की सत्ता जिसने रखी है ऐसा और आयुकर्म को नहीं बांधता.[1] पूर्व-पूर्व स्थितिबंध की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के स्थितिबंध को पल्योपम के संख्यातवें भाग कम-कम करता हुआ, यानि एक स्थितिबंध जब पूर्ण हो तब नया पल्योपम का संख्यातवें भाग न्यून बाँधता—करता, बध्यमान अशुभ प्रकृतियों के द्विस्थानक रस को बाँधता और उसको भी प्रतिसमय अनन्तगुण हीन अर्थात् अनन्तवें भाग करता और बंधती हुई शुभप्रकृतियों के रस को चतुःस्थानक बाँधता हुआ और उसे भी प्रतिसमय अनन्तगुणा बढ़ाता हुआ तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और

---

१ अतिविशुद्धपरिणाम वाला जीव आयु को नहीं बाँधता है। आयुकर्म का बंध मध्यम परिणामों से होता है, इसीलिये उसका निषेध किया है।

विभंगज्ञान में से किसी भी साकारोपयोग—ज्ञानोपयोग में वर्तमान जीव सम्यक्त्व प्राप्त करने के योग्य है और वैसा जीव उसे प्राप्त करने के लिये तीन करण करता है। जिनके नाम आगे की गाथा में बतलाते हैं।

करणत्रय के नाम

पढमं अहापवत्तं बीयं तु नियट्टी तइयमणियट्टी।
अंतोमुहुत्तियाइं उवसमअद्धं च लहइ कमा ॥५॥

शब्दार्थ—**पढमं**—प्रथम-पहला, **अहापवत्तं**—यथाप्रवृत्तकरण, **बीयं**—द्वितीय-दूसरा, **तु**—और, **नियट्टी**—निवृत्ति-अपूर्वकरण, **तइयमणियट्टी**—तृतीय-तीसरा अनिवृत्तिकरण, **अन्तोमुहुत्तियाइं**—अंतर्मुहूर्तकाल वाले, **उवसमअद्धं**—उपशमकाल प्रमाण (अन्तर्मुहूर्तकालप्रमाण) **च**—और, **लहइ**—प्राप्त करता है, **कमा**—क्रम से।

गाथार्थ—पहला यथाप्रवृत्त, दूसरा अपूर्वकरण और तीसरा अनिवृत्तिकरण है। ये प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त काल वाले हैं। तत्पश्चात् उपशमकालप्रमाण वाले (अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण वाले) उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व जीव तीन करण करता है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। इन तीनों करणों में से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण का है। इस प्रकार अनुक्रम से तीनों करणों को करने के पश्चात् जीव उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है और उस प्राप्त उपशमसम्यक्त्व का काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

अब ग्रन्थकार आचार्य तीनों करणों का लक्षण—स्वरूप बतलाते हैं।

तीन करणों का स्वरूप

आइल्लेसु दोसुं जहन्नउक्कोसिया भवे सोही।
जं पइसमयं अज्झवसाया लोगा असंखेज्जा ॥६॥

शब्दार्थ—**आइल्लेसु**—आदि के, **दोसुं**—दो करणों में, **जहन्नउक्कोसिया**—जघन्य और उत्कृष्ट, **भवे**—होती है, **सोही**—विशुद्धि, **जं**—क्योंकि, **पइ-**

समयं—प्रत्येक समय, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **लोगा असंखेज्जा**—असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण।

गाथार्थ—आदि के दो करणों में जघन्य और उत्कृष्ट इस तरह दो प्रकार की विशुद्धि होती है। क्योंकि प्रत्येक समय में असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसाय हैं।

विशेषार्थ—करण अर्थात् आत्मपरिणाम यानि कि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में अनन्त-अनन्तगुण बढ़ते हुए आत्म परिणाम।

आदि के दो करणों—यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण से साथ चढ़े हुए जीवों में अध्यवसायों का तारतम्य होता है। यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के प्रथम समय को समकाल में स्पर्श करने वाले जीवों में उस-उस करण की अपेक्षा कितने ही जघन्यपरिणामी, कितने ही मध्यमपरिणामी, और कितने ही उत्कृष्टपरिणामी जीव होते हैं। इसीलिये आचार्य ने संकेत किया है कि आदि के यथाप्रवृत्त और अपूर्व इन दो करणों में जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विशुद्धि होती है। क्योंकि इन दो करणों में अनेक जीवों की अपेक्षा प्रतिसमय तरतमभाव से असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण अध्यवसाय-विशुद्धि के स्थान हैं और वे भी पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में प्रवर्धमान होते हैं। जैसे कि—

यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में तीनों काल के जीवों की अपेक्षा तरतमभाव से असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण विशुद्धि के स्थान होते हैं। दूसरे समय में क्षयोपशम की विचित्रता से कुछ अधिक विशुद्धि के स्थान होते हैं, तीसरे समय में पूर्व से कुछ अधिक होते हैं। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय से अपूर्वकरण के प्रथम समय में अधिक विशुद्धि के स्थान होते हैं, दूसरे समय में उनकी अपेक्षा अधिक, इस तरह अपूर्वकरण के भी चरम समय तक जानना चाहिये।

इन करणों को स्पर्श करने वाले तीनों काल के जीव यद्यपि अनन्त हैं, परन्तु बहुत से जीव समान अध्यवसाय-विशुद्धि वाले होने से अध्यवसाय-विशुद्धि के स्थानों की संख्या असंख्य लोकाकाशप्रदेश प्रमाण ही

होती है, इससे अधिक नहीं। इन दोनों करणों में पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में मोहनीयकर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण अध्यवसायों की संख्या बढ़ती जाती है। जिससे यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के अध्यवसायों की स्थापना की जाये तो विषम चतुरस्रक्षेत्र को व्याप्त करते हैं।

अनिवृत्तिकरण में तो साथ में च हुए जीव समान परिणाम वाले ही होते हैं। यानि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में जो जीव आरूढ़ हुए थे, जो आरूढ़ हो रहे हैं और आरोहण करेंगे उनके एक-जैसे सदृश परिणाम होते हैं। साथ में आरोहण किये हुए जीवों में अपूर्वकरण की तरह अध्यवसायों की तरतमता नहीं होती है।[1] इसीलिये अनिवृत्तिकरण के अध्यवसाय मुक्तावलि संस्थित जानना चाहिये।[2]

---

१ फिर भी पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में अनन्तगुणी विशुद्धि तो होती ही है।

२ यथाप्रवृत्त आदि तीनों करणों के अध्यवसायों का प्रारूप इस प्रकार है—

यथाप्र॰ अपूर्वकरण के अध्यवसायों का प्रारूप

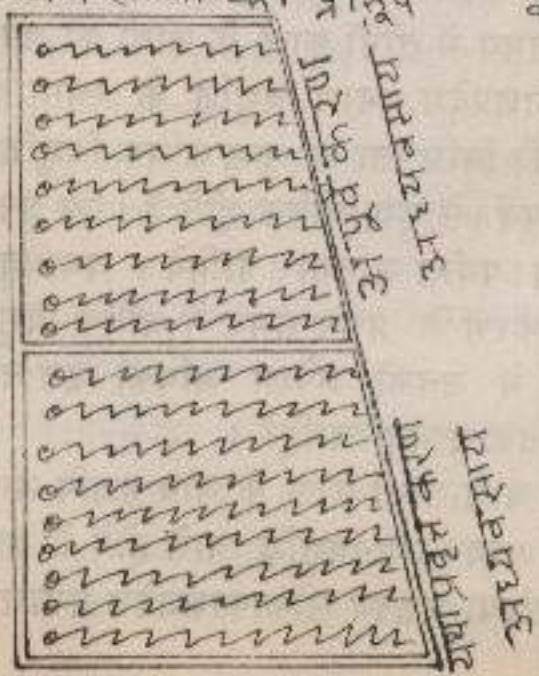

अनिवृत्तिकरण के अध्यवसायो का प्रारूप

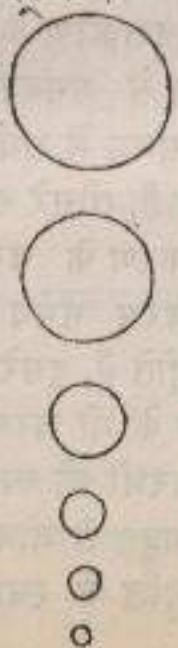

अब इसी बात को विशेषता के साथ स्पष्ट करते हैं—

पइसमयमणन्तगुणा सोही उड्ढामुही तिरिच्छा उ ।
छट्ठाणा जीवाणं तइए उड्ढामुही एक्का ॥७॥

शब्दार्थ—**पइसमयमणन्तगुणा**—प्रतिसमयअनन्तगुण, **सोही**—विशुद्धि, **उड्ढामुही**—ऊर्ध्वमुखी, **तिरिच्छा**—तिर्यग्मुखी, **उ**—और, **छट्ठाणा**—षट्-स्थानपतित, **जीवाणं**—जीवों की, **तइए**—तीसरे अनिवृत्तिकरण में, **उड्ढामुही**—ऊर्ध्वमुखी, **एक्का**—एकमात्र ।

गाथार्थ—प्रति समय जीवों की ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि अनन्त-गुण है और तिर्यग्मुखी विशुद्धि षट्स्थानपतित है । तीसरे अनिवृत्तिकरण में एकमात्र ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि ही होती है ।

विशेषार्थ—पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय की विशुद्धि के विचार को ऊर्ध्वमुखीविशुद्धि और एक ही समय की विशुद्धि को—विशुद्धि के तारतम्य के विचार को तिर्यग्मुखीविशुद्धि कहते हैं । ऊर्ध्वमुखीविशुद्धि तो तीनों करणों में होती है और तिर्यग्-मुखीविशुद्धि मात्र प्रारम्भ के दो करणों यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण में ही होती है । तीनों करणों में पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय की ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि अनन्त-अनन्त गुणी जानना चाहिये । अर्थात् प्रथम समय में जो विशुद्धि है, उसकी अपेक्षा द्वितीय समय में अनन्तगुणी विशुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा तीसरे समय में अनन्तगुणी विशुद्धि होती है । इस तरह यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये ।

आदि के दो करणों की तिर्यग्मुखी विशुद्धि षट्स्थान पतित होती है । अर्थात्— यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में साथ ही आरूढ़ हुए जीवों में अनेक जीवों की अपेक्षा जो असंख्यात लोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान हैं, उनमें का किसी जीव का विशुद्धि स्थान किसी

जीव के विशुद्धिस्थान की अपेक्षा अनन्तभाग अधिक होता है, किसी का असंख्यातभाग अधिक, किसी का संख्यातभाग अधिक, किसी का संख्यातगुण अधिक, किसी का असंख्यातगुण अधिक और किसी का अनन्तगुण अधिक होता है। इसी तरह दूसरे, तीसरे आदि अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये।

इस तरह यथाप्रवृत्त तथा अपूर्वकरण में साथ ही आरूढ़ हुए जीवों में विशुद्धि का तारतम्य है।

अनिवृत्तिकरण में इस तरह का तारतम्य नहीं है। क्योंकि अनिवृत्तिकरण में तो प्रत्येक समय साथ आरूढ़ हुए समस्त जीवों के विशुद्धिस्थान—अध्यवसाय समान-सदृश तुल्य होते हैं। यानि अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में जो जीव थे, हैं और होंगे, उन सबका एक ही अध्यवसायस्थान— समान विशुद्धि होती है। दूसरे समय में जो जीव थे, हैं और होंगे, उन सबका भी एक ही अध्यवसायस्थान होता है। मात्र प्रथम समय के अध्यवसायों की विशुद्धि की अपेक्षा वह अनन्त गुणी है। इस तरह से अनिवृत्तिकरण के चरमसमयपर्यन्त जानना चाहिये। इसी कारण अनिवृत्तिकरण में ऊर्ध्वमुखी एक ही विशुद्धि होती है, परन्तु तिर्यग्मुखी विशुद्धि नहीं होती है।

पूर्वोक्त कारण से यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के अध्यवसायों की स्थापना विषमचतुरस्र और अनिवृत्तिकरण के अध्यवसायों की स्थापना मुक्तावली संस्थित बतलाई है।

अब यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि का तारतम्य बतलाते हैं—

यथाप्रवृत्तकरण की विशुद्धि

गंतुं संखेज्जंसं अहापवत्तस्स हीण जा सोही।
तीए पढमे समये अणन्तगुणिया उ उक्कोसा ॥८॥

एवं एक्कंतरिया हेट्ठुवरिं जाव हीणपज्जन्ते ।
तत्तो उक्कोसाओ उवरुवरिं होइ अणन्तगुणा ॥९॥

शब्दार्थ—**गंतुं**—जाने पर, **संखेज्जसं**—संख्यातवेंभागपर्यन्त, **अहापवत्तस्स**—यथाप्रवृत्तकरण के, **हीण**—हीन, **जं**—जो, **सोहि**—विशुद्धि, **तस्स**—उसके, **पढमे समये**—प्रथम समय में, **अणन्तगुणिया**—अनन्तगुणित, **उ**—और, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट ।

एवं—इसी प्रकार, **एक्कंतरिया**—एकान्तरित, **हेट्ठुवरिं**—नीचे और ऊपर, **जाव**—यावत्, **हीणपज्जन्ते**—जघन्यपर्यन्त, **तत्तो**—उसके बाद, **उक्कोसाओ**—उत्कृष्ट, **उवरुवरि**—ऊपर-ऊपर, **होइ**—होती है, **अणन्तगुणा**—अनन्तगुण ।

गाथार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के संख्यातवें भाग पर्यन्त जाने पर उसके चरम समय में जो जघन्य विशुद्धि होती है, उसकी अपेक्षा प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है ।

इसी प्रकार संख्यातवें भाग से नीचे और ऊपर एकान्तरित विशुद्धि वहाँ तक जानना चाहिये यावत् जघन्य विशुद्धि का अन्तिम स्थान प्राप्त हो, उसके बाद ऊपर-ऊपर उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है ।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में तरतम भाव से विशुद्धि के जो असंख्य स्थान कहे हैं, उनमें की जो सर्वजघन्य विशुद्धि है, जिसका आगे कथन किया जायेगा, उसकी अपेक्षा अल्प होती है, उसकी अपेक्षा दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, इस प्रकार वहाँ तक कहना चाहिये यावत् यथाप्रवृत्तकरण का संख्यातवां भाग जाये और उस संख्यातवें भाग के अन्त में जो जघन्य विशुद्धि है, उससे प्रथम समय में उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है । उससे संख्यातवें भाग

के अनन्तरवर्ती समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है। यानि जिस समय की जघन्यविशुद्धि की अपेक्षा प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी कही है, उसके बाद के समय की जघन्यविशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। उससे (दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से) जिस समय से दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी कही है, उसके बाद के समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है। यानि संख्यातवें भाग के बाद के दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी है। इस प्रकार से ऊपर नीचे एक-एक समय की जघन्य उत्कृष्ट अनन्तगुण विशुद्धि कहते हुए वहाँ तक कहना चाहिये यावत् यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि यथाप्रवृत्तकरण के संख्यातवें भाग के बाद से लेकर नीचे और ऊपर एक समय की उत्कृष्ट और एक समय की जघन्य, इस तरह एकान्तरित एक-एक अन्तर से अनन्तगुण विशुद्धि वहां तक कहना चाहिये यावत् जघन्यविशुद्धि का अन्तिम स्थान—यथाप्रवृत्तकरण का चरम स्थान प्राप्त हो।

इस प्रकार से एकान्तरित जघन्य विशुद्धि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। अब यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम संख्यातवें भाग में कि जिसमें जघन्य विशुद्धि कही गई है किन्तु अभी उत्कृष्ट विशुद्धि का निर्देश नहीं किया है, उसको भी उत्तरोत्तर एक दूसरे से अनन्तगुणी जानना चाहिये। यानि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की जघन्य विशुद्धि से उसी करण के अन्तिम संख्यातवें भाग के प्रथम समय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह चरम समय पर्यन्त उत्कृष्ट विशुद्धि कहना चाहिये। सुगमता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

यथाप्रवृत्तकरण विशुद्धि

१ प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि सर्वस्तोक उससे
२ दूसरे " " " अनन्तगुण "
३ तीसरे " " " " "
४ चौथे " " " " "
५ पाँचवें " " " " "
६ छठे " " " " "
७ सातवें " " " " "
८ आठवें " " " " "
९ नौवें " " " " "
१० दसवें " " " " "
११ ग्यारहवें " " " " "
१२ बारहवें " " " " "
१३ तेरहवें " " " " "

असंख्यातवां भाग

१ प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण उससे
—२ दूसरे " " " " "
—३ तीसरे " " " " "
—४ चौथे " " " " "
—५ पाँचवें " " " " "
—६ छठे " " " " "
—७ सातवें " " " " "
—८ आठवें " " " " "
—९ नौवें " " " " "
—१० दसवें " " " " "
११ ग्यारहवें " " " " "
१२ बारहवें " " " " "
१३ तेरहवें " " " " "

असंख्यातवां भाग

इस प्रकार की'——'रेखायुक्त समयस्थानों में परस्पराक्रान्त प्ररूपणा करना चाहिये। जैसे चौथे जघन्यस्थान की विशुद्धि कहकर प्रथम स्थान की उत्कृष्टविशुद्धि फिर प्रथम स्थान की उत्कृष्ट विशुद्धि से पांचवें स्थान की जघन्य विशुद्धि कहना चाहिये। अर्थात् एक की उत्कृष्ट दूसरे की जघन्य इस क्रम से शेष संख्यातवें भाग के उत्कृष्ट स्थानों को छोड़कर कहना चाहिये।

इस प्रकार से यथाप्रवृत्तकरण का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रमप्राप्त दूसरे करण अपूर्वकरण की स्वरूप-व्याख्या करते हैं।

अपूर्वकरण की विशुद्धि स्वरूप व्याख्या

जा उक्कोसा पढमे तीसेणन्ता जहण्णिया बीए।
करणे तीए जेट्ठा एवं जा सव्वकरणंपि ॥१०॥

शब्दार्थ—**जा**—जो, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **पढमे**—प्रथम समय में, **तीसेणंता**—उससे अनन्तगुण, **जहण्णिया**—जघन्य, **बीए**—दूसरे समय की, **करणे**—करण में, **तीए**—उसी के, **जेट्ठा**—उत्कृष्ट, **एवं**—इस प्रकार, **जा**—पर्यन्त, **सव्वकरणंपि**—सभी करणों में भी।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो उत्कृष्ट विशुद्धि है उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे उसी (दूसरे) समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी है। इसी प्रकार सम्पूर्ण करण पर्यन्त जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय में जो उत्कृष्ट विशुद्धि होती है, उससे अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। उससे उसी प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे तीसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे भी उसी तीसरे समय की उत्कृष्टविशुद्धि अनन्तगुण होती है। इस प्रकार प्रत्येक समय में जघन्य-उत्कृष्ट विशुद्धि वहाँ तक कहना चाहिये यावत् अपूर्वकरण सम्पूर्ण हो।

इस प्रकार से अपूर्वकरण की विशुद्धि का क्रम जानना चाहिये और वह यथाप्रवृत्तकरण से कुछ विलक्षण है। क्योंकि यथाप्रवृत्ताकरण में उसके संख्यातवें भाग तक जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण कहने के बाद एकान्तरित जघन्य-उत्कृष्ट विशुद्धि कही है और इस दूसरे करण में तो पहले ही समय से जघन्य, उसी समय की उत्कृष्ट इस तरह एक-एक समय की जघन्य-उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण कही है। सुगमता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार है—

अपूर्वकरण विशुद्धि

१ प्रथम समय की	जघन्यविशुद्धि	सर्वस्तोक	उससे	—	१ प्रथम समय की	उत्कृष्ट विशुद्धि	अनन्तगुण	उससे
२ दूसरे	"	"	"	"	"	—२ दूसरे	"	"	"	"	"
३ तीसरे	"	"	"	"	"	—३ तीसरे	"	"	"	"	"
४ चौथे	"	"	"	"	"	—४ चौथे	"	"	"	"	"
५ पाँचवें	"	"	"	"	"	—५ पाँचवें	"	"	"	"	"
६ छठे	"	"	"	"	"	—६ छठे	"	"	"	"	"
७ सातवें	"	"	"	"	"	—७ सातवें	"	"	"	"	"
८ आठवें	"	"	"	"	"	—८ आठवें	"	"	"	"	"
९ नौवें	"	"	"	"	"	—९ नौवें	"	"	"	"	"

यद्यपि अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि सर्वस्तोक है, लेकिन वह भी अधःप्रवृत्तकरण की सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि से अनन्तगुणी है। यहाँ सभी स्थान परस्पराक्रान्त हैं अतः एक का जघन्य स्थान दूसरे का उत्कृष्ट स्थान, दूसरे का उष्कृष्ट स्थान तीसरे का जघन्य स्थान इत्यादि इस क्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि कहना चाहिये। यह क्रम चरम उत्कृष्ट स्थान तक समझना।

अब इस करण में और जो दूसरी विशेषताएँ होती हैं—उनको स्पष्ट करते हैं—

अपुव्वकरणसमगं कुणइ अपुव्वे इमे उ चत्तारि।
ठितिघायं रसघायं गुणसेढी बंधगद्धा य ॥११॥

शब्दार्थ—**अपुव्वकरणसमगं**—अपूर्वकरण के साथ ही, **कुणइ**—होती हैं, **अपुव्वे**—अपूर्व, **इमे**—यह, **उ**—ही, **चत्तारि**—चार, **ठितिघायं**—स्थितिघात, **रसघायं**—रसघात, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि, **बंधगद्धा**—बंधकाद्धा-स्थितिबंध, **य**—और।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के साथ ही स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और स्थितिबंध ये चार अपूर्व बातें होती हैं।

विशेषार्थ—जिस समय जीव अपूर्वकरण में प्रवेश करता है, उसी समय से लेकर जिनका स्वरूप आगे कहा जायेगा और जिनको भूत काल में किसी समय किया नहीं, इसीलिये अपूर्व ऐसी ये चार बातें—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुणश्रेणि और ४ बंधकाद्धा—अपूर्व स्थितिबंध—होती हैं।

इन चारों की विशद व्याख्या अनुक्रम से आगे करते हैं। उनमें से स्थितिघात का स्वरूप इस प्रकार है—

स्थितिघात

उक्कोसेणं बहुसागराणि इयरेण पल्लसंखंसं ।
ठितिअग्गाओ घायइ अन्तमुहुत्तेण ठितिखंडं ॥१२॥

शब्दार्थ—उक्कोसेणं—उत्कृष्ट से, **बहुसागराणि**—अनेक सागरोपम प्रमाण, **इयरेण**—इतर-जघन्य से, **पल्लसंखंसं**—पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण, **ठितिअग्गाओ**—स्थिति के अग्रभाग से, **घायइ**—घात होता है, **अन्तमुहुत्तेण**—अन्तर्मुहूर्त काल में, **ठितिखंडं**—स्थितिखण्ड का ।

गाथार्थ—स्थिति के अग्रभाग से उत्कृष्ट से अनेक सागरोपम प्रमाण और इतर-जघन्य से पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल में घात होता है ।

विशेषार्थ—सत्ता में वर्तमान स्थिति के अग्रभाग से—अन्त के भाग से—उत्कृष्ट से अनेक सागरोपम प्रमाण और जघन्य से पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल में घात होता है और घात होकर उसके दलिक के नीचे जिस स्थिति का घात नहीं होता है, वहाँ प्रक्षेप किया जाता है । तत्पश्चात् पुनः पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल में घात होता है और उसके दलिक का पहले कहे अनुसार नीचे प्रक्षेप किया जाता है । इस प्रकार से अपूर्वकरण के काल में अनेक—हजारों स्थितिघात होते हैं । जिससे अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितनी स्थिति की सत्ता होती है, उससे उसके चरम समय में संख्यातवें भाग की सत्ता रह जाती है ।

स्थितिघात अर्थात् जितनी स्थिति का घात करना है उतनी स्थिति में—काल में भोगने योग्य दलिकों को वहाँ से हटाकर भूमि को साफ करना । यानि निषेक रचना के समय जो दलिक उन स्थानों में भोगने योग्य हुए थे उन दलिकों को अन्य स्थान के दलिकों के साथ

अर्थात् जिन स्थानों में उन दलिकों का प्रक्षेप किया जाता है, उनके साथ भोगने योग्य किया जाना।

अनेक सागरोपमप्रमाण या पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति का घात होता है, यानि उतनी स्थिति में भोगे जायें उतने दलिकों को वहां से हटाकर उतनी भूमि को साफ किया जाना, जिससे उतनी स्थिति के दलिक अन्य स्थिति के साथ भोगे जायें वैसे किया जाना। निषेकरचना के समय उन स्थानों में दलिक स्थापित किये गये थे, किन्तु स्थितिघात के समय मात्र अन्तर्मुहूर्त में ही ऊपर कही उतनी स्थिति में स्थापित दलिक अन्य स्थितियों में या जिनका स्थिति-घात नहीं होना है, उनके साथ भोगे जा सकें, उस रूप में किया जाना। जिससे उतनी स्थिति में भोगने योग्य दलिक नहीं रहते हैं। इसी कारण स्थिति का घात हुआ, स्थिति कम हुई, यह कहा जाता है।

इस प्रकार से स्थितिघात का स्वरूप जानना चाहिए। अब रसघात का स्वरूप कहते हैं।

रसघात

असुभाणंतमुहुत्तेणं हणइ रसकंडगं अणंतंसं।
किरणे ठितिखंडाणं तंमि उ रसकंडगसहस्सा ॥१३॥

शब्दार्थ—**असुभाणंतमुहुत्तेणं**—अशुभ प्रकृतियों के अन्तर्मुहूर्तकाल में, **हणइ**—घात करता है, **रसकंडगं**—रसकंडक का, **अणंतंसं**—अनन्त भाग रूप, **किरणे**—उत्कीर्ण करने में प्रवृत्त होकर, **ठितिखंडाणं**—एक स्थिति घात काल में, **तंमि उ**—उतने में, **रसकंडगसहस्सा**—हजारों रस कंडक।

गाथार्थ—उत्कीर्ण करने में प्रवृत्त होकर स्थितिघात करते हुए अशुभ प्रकृतियों के अनन्तभाग रूप सत्तागत रसकंडक का

अन्तर्मुहूर्त काल में घात करता है। एक स्थितिघातकाल में हजारों रसकंडकों का घात होता है।

विशेषार्थ—गाथा में कर्मप्रकृतियों के अनुभाग-रस के घात होने की प्रक्रिया का निर्देश किया है। रसघात यानि बंध के समय जीव ने कषायिक अध्यवसायों द्वारा कर्म पुद्गलों में जो फलदानशक्ति उत्पन्न की थी, उस शक्ति को कम करना।

अशुभ प्रकृतियों का जो रस सत्ता में है, उसके अनन्तवें भाग को छोड़कर शेष समस्त रस को अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करता है। उसके बाद पुनः पूर्व में शेष रहे अनन्तवें भाग के अनन्तवें भाग को छोड़कर शेष रस को अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करता है। इस प्रकार से एक-एक स्थितिघात जितने काल में हजारों रसघात होते हैं। हजारों स्थितिघातों द्वारा अपूर्वकरण पूर्ण होता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि अपूर्वकरण के काल में हजारों बार स्थितिघात होता है और एक स्थितिघात जितने काल में हजारों बार रसघात हो जाता है। यानि विशुद्ध परिणाम के योग से आत्मा के गुणों की बंध के समय उत्पन्न आवारक शक्ति को विशुद्धि के प्रमाण में कम करता है। सत्तागत अशुभ प्रकृतियों के रस के अनन्तवें भाग को छोड़कर अनन्तवें भाग रूप एक खण्ड को अन्तर्मुहूर्त काल में घात करता है। जिससे कि उस खण्ड में के अमुक प्रमाण रस को पहले समय में, अमुक प्रमाण रस को दूसरे समय में, इस प्रकार क्षय करते-करते चरम समय में उस रसखण्ड का पूर्णतया नाश होता है। उसके बाद पहले जो अनन्तवाँ भाग छोड़ा था उसका अनन्तवाँ भाग छोड़कर अनन्त भाग को उपर्युक्त रीति से अन्तर्मुहूर्त काल में घात करता है। इस प्रकार रस का घात होने से उत्तरोत्तर अल्प-अल्प रस वाले दलिक बंध को प्राप्त होते हैं। ऐसा होने से अध्यवसायों की निर्मलता भी बढ़ती जाती है।

इस प्रकार से रसघात का स्वरूप जानना चाहिए। अब गुणश्रेणि का स्वरूप बतलाते हैं।

गुणश्रेणि

घाइय ठिईओ दलियं घेत्तुं घेत्तुं असंखगुणणाए।
साहियदुकरणकालं उदयाइ रएइ गुणसेढिं ॥१४॥

शब्दार्थ—**घाइय**—घात किये गये, **ठिईओ दलियं**—स्थिति के दलिकों को, **घेत्तुं-घेत्तुं**—ग्रहण कर करके, **असंखगुणणाए**—असंख्यातगुण-असंख्यातगुण रूप से, **साहियदुकरणकालं**—दोनों करणों की अपेक्षा से अधिक काल में, **उदयाइ**—उदय से प्रारम्भ कर, **रएइ**—रचना होती है, **गुणसेढिं**—गुणश्रेणि की।

गाथार्थ—घात किये गये स्थिति के दलिकों में से दलिकों को ग्रहण कर-करके उदय से प्रारम्भ कर पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण रूप से दोनों करणों (अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण) की अपेक्षा अधिक काल में जो दल-रचना होती है, वह गुणश्रेणि है।

विशेषार्थ—जिस स्थिति का घात किया गया है, उसमें से दलिकों को ग्रहण करके उन दलिकों को उदयसमय से प्रारम्भ कर प्रत्येक समय में ऊपर-ऊपर के प्रत्येक स्थान में असंख्य-असंख्य गुण बढ़ते अर्थात् पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करना। जैसे कि उदय समय में स्तोक स्थापित करना, दूसरे समय में असंख्यगुण रूप से स्थापित करना, तीसरे समय में उससे भी असंख्यातगुण अधिक स्थापित करना, इस प्रकार असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से जो दलरचना होती है, उसे गुणश्रेणि कहते हैं और इस प्रकार की दलरचना अपूर्वकरण एवं अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक समयों में होती है।

इस तरह जिसका स्थितिघात होता है, उसमें से पहले समय में जो दलिक उठाये जाते हैं उनकी रचना का क्रम उक्त प्रकार है। दूसरे समय में पहले समय की अपेक्षा असंख्यातगुण दलिक लिये जाते हैं और उदयसमय से प्रारम्भ कर पूर्वोक्त क्रम से स्थापित किये जाते हैं। इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण अधिक लिये जाते हैं और उनको भी उदय समय से प्रारम्भ कर पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित किये जाते हैं। इस तरह गुणश्रेणि क्रियाकाल के चरमसमय पर्यन्त जिसका स्थितिघात होता है उसमें से दलिकों को ग्रहण करके उदय समय से प्रारम्भ कर स्थापित किये जाते हैं। तथा—

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयों को अनुक्रम से अनुभव करते-करते क्षीण होने से गुणश्रेणि द्वारा होने वाला दलिकनिक्षेप अवशिष्ट समयों में होता है किन्तु समय मर्यादा से ऊपर नहीं बढ़ता है। यानि कि गुणश्रेणिक्रियाकाल के प्रथम समय में—अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितने स्थानों में दल रचना हुई थी, उससे उसके बाद के—दूसरे समय में एक कम स्थान में दलरचना होती है, तीसरे समय में दो कम स्थान में दलरचना होती है, इस तरह जैसे-जैसे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समय भोगते-भोगते क्रमशः कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे कम-कम स्थानों में दल रचना होती है। अपूर्व-करण के प्रथम समय में जो अन्तिम स्थान था, वही गुणश्रेणि क्रिया पूर्ण होने तक अन्तिम स्थान के रूप में रहता है किन्तु दल रचना आगे नहीं बढ़ती है।

इस प्रकार से गुणश्रेणि का स्वरूप जानना चाहिए। अब अपूर्व-स्थितिबंध का स्वरूप कहते हैं।

अपूर्वस्थितिबंध

करणाइए अपुव्वो जो बंधो सो न होइ जा अन्नो ।
बंधगद्धा सा तुल्लिगा उ ठिइकंडगद्धाए ॥१५॥

शब्दार्थ—**करणाइए**—करण के आदि में, **अपुव्वो**—अपूर्व, **जो बंधो**—जो बंध, **सो न होइ**—वह नहीं हो **जा अन्नो**—जब तक अन्य, **बंधगद्धा**—बंधकाद्धा, **सा**—वह, **तुल्लिगा**—तुल्य, **उ**—और, **ठिइकंडगद्धाए**—स्थिति-कंडक काल (स्थितिघात काल) ।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के आदि में (प्रथम समय में) जो बंध होता है, उसकी अपेक्षा अन्य दूसरा स्थितिबंध नहीं हो वहाँ तक के काल को बंधकाद्धा कहते हैं, वह बंधकाद्धास्थितिघात काल तुल्य है ।

विशेषार्थ—एक स्थितिबंध के काल को बंधकाद्धा कहते हैं । अपूर्व-करण के प्रथम समय में जो स्थितिबंध प्रारम्भ हुआ है, वही स्थिति-बंध जब तक रहे, नया प्रारम्भ न हो, वहाँ तक के काल को बंधकाद्धा-बंधकाल कहते हैं और वह स्थितिघात के समान है । स्थितिघात और अपूर्व स्थितिबंध एक साथ ही प्रारम्भ होते हैं और साथ ही पूर्ण होते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक स्थितिघात करते जितना काल होता है, उतना ही काल एक स्थितिबंध करते हुए भी होता है, तत्प-श्चात् नवीन बंध प्रारम्भ होता है ।

ऐसा करने का जो परिणाम होता है, उसका उपसंहार करते हुए अब अनिवृत्तिकरण का स्वरूप प्रतिपादन करना प्रारम्भ करते हैं ।

अपूर्वकरण का उपसंहार : अनिवृत्तिकरण का निरूपण

जा करणाईए ठिई करणन्ते तीइ होइ संखंसो ।
अणिअट्टिकरणमओ मुत्तावलिसंठियं कुणइ ॥१६॥

शब्दार्थ—**जा**—जो, **करणाईए**—अपूर्वकरण के प्रारम्भ में, **ठिई**—स्थिति, **करणंते**—करण के अन्त में, **तीइ**—उसका, **होइ**—होता है, **संखंसो**—संख्यातवाँ भाग, **अणिअट्टिकरणमओ**—इसके बाद अनिवृत्तिकरण, **मुत्तावलि-संठियं**—मुक्तावली के आकार रूप, **कुणइ**—करता है।

गाथार्थ—अपूर्वकरण के प्रारम्भ में जो स्थिति की सत्ता थी, उसका संख्यातवाँ भाग करण के अन्त में शेष रहता है। उसके बाद मुक्तावली के आकार रूप अनिवृत्तिकरण को करता है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितनी स्थिति की सत्ता थी, उसमें से हजारों स्थितिघातों के द्वारा क्रमशः क्षीण होते-होते अपूर्वकरण के चरम समय में संख्यातवें भाग जितनी ही अवशिष्ट रहती है।

इस प्रकार से अपूर्वकरण में स्थितिघात आदि चार पदार्थ प्रवर्तमान होते हैं और इनके पश्चात् अनिवृत्तिकरण प्रारम्भ होता है। जो पहले छोटा मोती उसके बाद क्रमशः उत्तरोत्तर पूर्व की अपेक्षा बड़ा इस तरह मुक्ताहार के आकार का होता है। इसका कारण यह है कि अनिवृत्तिकरण में तिर्यंगमुखी विशुद्धि नहीं होती है, मात्र ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि ही होती है। जिससे अनिवृत्तिकरण के किसी भी समय में एक साथ चढ़े हुए सभी जीवों के एक समान परिणाम होते हैं और पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। इसी कारण यह करण मुक्तावली के आकार वाला बताया है। तथा—

एवमनियट्टीकरणे ठितिघायाईणि होंति चउरो वि।
संखेज्जंसे सेसे पढमठिई अंतरं च भवे ॥१७॥

शब्दार्थ—**एवमनियट्टीकरणे**—इसी प्रकार से अनिवृत्तिकरण में, **ठितिघायाईणि**—स्थितिघातादि, **होंति**—होते हैं, **चउरो वि**—चारों ही, **संखेज्जंसे**—संख्यातवां भाग, **सेसे**—शेष रहने पर, **पढमठिई**—प्रथमस्थिति, **अंतरं**—अंतरकरण, **च**—और, **भवे**—होता है।

गाथार्थ—इसी प्रकार से (अपूर्वकरण की तरह) अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघात आदि चारों ही होते हैं और अनिवृत्तिकरण का संख्यातवां भाग शेष रहने पर प्रथमस्थिति और अंतरकरण होता है।

विशेषार्थ—अपूर्वकरण के अनुरूप ही अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघात आदि चारों पदार्थ प्रवर्तित होते हैं। इस तरह स्थितिघात आदि होते-होते अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीत जायें और एक संख्यातवां भाग शेष रहता है तब अनिवृत्तिकरण का जितना काल शेष रहता है, उतने ही काल में भोगी जा सके उतनी मिथ्यात्व की स्थिति को रखकर ऊपर की स्थिति का अंतरकरण होता है।

अंतरकरण यानि अन्तर्मुहूर्त में भोगे जायें उतने स्थानों के दलिकों को वहाँ से हटाकर शुद्ध—दलिकरहित—भूमि का बनाना। यद्यपि शुद्धभूमि का नाम ही अंतरकरण है परन्तु वहाँ से दलिक हटे बिना शुद्धभूमि होती नहीं, इसलिये कारण में कार्य का आरोप करके अन्तरकरणक्रियाकाल को भी अंतरकरण कहा जाता है।

यह अंतरकरण—मिथ्यात्व के दलिक विहीन शुद्ध भूमि—प्रथम स्थिति के अन्तर्मुहूर्त से कुछ अधिक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अर्थात् प्रथमस्थिति का जितना काल है, उससे अंतरकरण—शुद्धभूमि—उपशम सम्यक्त्व का काल कुछ अधिक है। तथा—

अंतमुहुत्तियमेत्ताइं दोवि निम्मवइ बंधगद्धाए।
गुणसेढिसंखभागं अंतरकरणेण उक्किरइ ॥१८॥

शब्दार्थ—**अंतमुहुत्तियमेत्ताइं**—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, **दोवि** दोनों को, **निम्मवइ**—बनाता है, **बंधगद्धाए**—बंधकाद्धा, **गुणसेढिसंखभागं**—गुणश्रेणि के संख्यातवें भाग को, **अंतरकरणेण**—अन्तरकरण के साथ, **उक्किरइ**—उत्कीर्ण करता है।

गाथार्थ—दोनों को अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है तथा (अंतरकरणक्रियाकाल) बंधकाद्धा तुल्य है। अंतरकाल के साथ गुणश्रेणि के संख्यातवें भाग को भी उत्कीर्ण करता है।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति और अन्तरकरण ये दोनों अन्तर्मुहूर्त प्रमाण हैं और दोनों साथ ही होते हैं। मात्र प्रथमस्थिति के अन्तर्मुहूर्त से अन्तरकरण का अन्तर्मुहूर्त कुछ बड़ा है तथा अन्तरकरणक्रियाकाल अपूर्वस्थितिबंध के जितना है। अर्थात् जिस समय अपूर्वस्थितिबंध प्रारम्भ होता है उसी समय अंतरकरण—अंतर डालने की क्रिया—शुद्ध भूमि करने की क्रिया—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थानों के दलिकों को हटाकर शुद्धभूमि करने की क्रिया प्रारम्भ होती है और अपूर्वस्थितिबंध पूर्ण होने के साथ ही अन्तरकरणक्रिया भी पूर्ण होती है और उतनी भूमि शुद्ध होती है। इसीलिये यह कहा है कि अन्तरकरण अभिनव स्थितिबंध के काल प्रमाण काल में करता है। अन्तरकरण के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व का अन्य स्थितिबंध प्रारम्भ करता है, वह स्थितिबंध और अन्तरकरण एक साथ ही पूर्ण होते हैं तथा गुणश्रेणि के जो संख्यात भाग प्रथम और द्वितीय स्थिति के आश्रय से रहे हुए हैं, उनका एक संख्यातवां भाग अन्तरकरण के दलिकों के साथ ही नाश करता है और पूर्व में जो यह कहा गया है कि गुणश्रेणि द्वारा जितने स्थानों में दलरचना होती है वे स्थान अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दोनों के समुदित काल से अधिक हैं, यानि जब अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ करता है तब भी अन्तरकरण में और उससे ऊपर की द्वितीय स्थिति में दलरचना होती है। इसी कारण अन्तरकरण के साथ गुणश्रेणि द्वारा स्थापित किये गये दलिक भी उत्कीर्ण किये जाते हैं।

अब अन्तरकरण की विधि का निर्देश करते हैं।

अन्तरकरण विधि

अंतरकरणस्स विहि घेत्तुं घेत्तुं ठिईउ मज्झाओ।
दलियं पढमठिईए विच्छुभई तहा उवरिमाए ॥१९॥

शब्दार्थ—**अंतरकरणस्स**—अंतरकरण की, **विहि**—विधि, **घेत्तुं-घेत्तुं**—ग्रहण कर करके, **ठिईउमज्झाओ**—स्थिति के मध्य में से, **दलियं**—दलिकों को, **पढमठिईए**—प्रथम स्थिति में, **विच्छुभई**—प्रक्षिप्त करता है, **तहा**—तथा, **उवरिमाए**—ऊपर की (द्वितीय) स्थिति में।

गाथार्थ—अंतरकरण की विधि यह है कि (अन्तरकरण की) स्थिति के मध्य में से दलिकों को ग्रहण करके प्रथम स्थिति में और ऊपर की (द्वितीय) स्थिति में प्रक्षिप्त करता है।

विशेषार्थ—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण की स्थिति में से दलिकों को ग्रहण करके कुछ को प्रथम स्थिति में और कुछ को द्वितीय स्थिति में प्रक्षिप्त करता है। अर्थात् कितने ही दलिकों को प्रथम स्थिति के कर्मणुओं के साथ भोगने योग्य और कितने ही दलिकों को द्वितीय स्थिति के कर्मणुओं के साथ भोगे जा सकने योग्य करता है। इस प्रकार से वहां तक जानना चाहिये कि अन्तरकरण के समस्त दलिकों का नाश हो और भूमिका शुद्ध हो। समस्त दलिकों का क्षय अन्तर्मुहूर्त काल में होता है और इस अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण स्थितिघात के काल जितना है। तथा—

इगदुगआवलिसेसाइ णत्थि पढमा उदीरणागालो।
पढमठिईए उदीरण बीयाओ एइ आगाला ॥२०॥

शब्दार्थ—**इगदुगआवलिसेसाइ**—एक-दो आवलिका शेष रहे तब, **णत्थि**—नहीं होते हैं, **पढमा**—प्रथम स्थिति में, **उदीरणागालो**—उदीरणा और आगाल, **पढमठिईए**—प्रथमस्थिति में से, **उदीरणा**—उदीरणा, **बीयाओ**—द्वितीय स्थिति में से, **एइ**—आते हैं, **आगाला**—आगाल।

गाथार्थ—प्रथमस्थिति की जब एक और दो आवलिका शेष रहे तब अनुक्रम से उदीरणा और आगाल नहीं होते हैं। प्रथम-स्थिति में से जो दलिक उदीरणा प्रयोग से उदय में आते हैं उसे उदीरणा और द्वितीय स्थिति में से जो उदय में आते हैं उसे आगाल कहते हैं।

विशेषार्थ—प्रथमस्थिति में वर्तमान आत्मा उदयावलिका से ऊपर के प्रथम स्थिति के दलिकों को उदीरणाप्रयोग से खींचकर जो उदयावलिका में प्रक्षिप्त करती है, उसे उदीरणा कहते हैं और दूसरी स्थिति में से उदीरणाप्रयोग से खींचकर उदयावलिकागत दलिकों के साथ भोगे जायें—वैसे करने को [illegible] हैं। अंतरकरणक्रिया शुरू होने के बाद प्रथम स्थिति में से जो दलिक खींचे जाते है वह उदीरणा और द्वितीय स्थिति में से जो दलिक खींचे जाते हैं वह आगाल है। इस प्रकार विशेष बोध कराने के लिये पूर्वाचार्यों ने आगाल यह उदीरणा का दूसरा नाम कहा है।

उदय और उदीरणा द्वारा प्रथम स्थिति अनुभव करती आत्मा वहां तक जाती है यावत् प्रथम स्थिति की दो आवलिका शेष रहे तब यहां से आगाल बंद हो जाता है, मात्र उदीरणा ही प्रवर्तित होती है और वह भी प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष न रहे, वहाँ तक ही होती है। प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहने पर उदीरणा भी बंद हो जाती है। शेष रही उस अंतिम आवलिका को उदय द्वारा ही भोग लेती है। तथा—

आवलिमेत्तं उदएण वेइउं ठाइ उवसमद्धाए।
उवसमियं तत्थ भवे सम्मत्तं मोक्खबीयं जं ॥२१॥

शब्दार्थ—**आवलिमेत्तं**—आवलिका मात्र दलिक को, **उदएण**—उदय से, **वेइउं**—वेदन करके, **ठाइ**—स्थित होता है, **उवसमद्धाए**—उपशम-अद्धा में, **उवसमियं**—औपशमिक, **तत्थ**—वहां, **भवे**—प्राप्त होता है, **सम्मत्तं**—सम्यक्त्व, **मोक्खबीयं**—मोक्ष का बीज, **ज**—जो।

गाथार्थ—आवलिकामात्र दलिक को उदय से वेदन कर जब उपशम-अद्धा में स्थित होता है, वहाँ जो मोक्ष का बीज है, वह औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

विशेषार्थ—प्रथम स्थिति के अन्तिम आवलिका गत दलिक को जब जीव केवल उदय से अनुभव कर अन्तरकरण में—शुद्धभूमि में

उपशान्ताद्धा में प्रवेश करता है तो उसके पहले समय से ही वह उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है।[1] जो मोक्ष का बीज रूप—कारण रूप है। क्योंकि सम्यक्त्व के बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता है।

उवरिमठिइ अनुभागं तं च तिहा कुणइ चरिममिच्छुदए।
देसघाईणं सम्मं इयरेणं मिच्छमीसाइं ॥२२॥

सम्मे थोवो मीसे असंखओ तस्ससंखओ सम्मे।
पइसमयं इय खेवो अन्तमुहुत्ता उ विज्झाओ ॥२३॥

शब्दार्थ—**उवरिमठिइ**—ऊपर की (द्वितीय) स्थिति के, **अणुभागं**—अनुभागरस को, **तं**—उसको, **च**—और, **तिहा**—तीन प्रकार का, **कुणइ**—करता है, **चरिममिच्छुदए**—चरम समय में मिथ्यात्व के उदय में, **देसघाईणं**—देशघाति, **सम्मं**—सम्यक्त्वमोहनीय को, **इयरेणं**—इतर सर्वघाती, **मिच्छमीसाइं**—मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय को।

सम्मे—सम्यक्त्व में, **थोवो**—स्तोक-अल्प, **मीसे**—मिश्र में, **असंखओ**—असंख्यात गुण, **तस्ससंखओ**—उससे भी असंख्यात गुण, **सम्मे**—सम्यक्त्व में, **पइसमयं**—प्रत्येक समय, **इय**—यह, **खेवो**—प्रक्षेप, **अन्तमुहुत्ता**—अन्तर्मुहूर्त, **उ**—और, **विज्झाओ**—विध्यातसंक्रमण।

---

१ अन्तरकरण में मिथ्यात्व के दलिक नहीं होने से उसके पहले समय में ही उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। जितने समय में भोगने योग्य दलिकों को हटाकर भूमि साफ की उतने समय को उपशान्ताद्धा अथवा अन्तरकरण कहा जाता है। उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होने में मिथ्यात्व प्रतिबंधक है। अन्तरकरण में उसके नहीं होने से उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। जब तक शुद्ध की हुई भूमि शुद्धभूमि रूप में रहती है, तब तक ही सम्यक्त्व भी रहता है।

गाथार्थ—प्रथम स्थिति के चरम समय में मिथ्यात्व के उदय में रहते द्वितीय स्थिति के अनुभाग-रस को तीन प्रकार का करता है। उसमें सम्यक्त्वमोहनीय को देशघातीरसयुक्त और मिश्र तथा मिथ्यात्वमोहनीय को सर्वघातीरसयुक्त करता है।

प्रथम समय में सम्यक्त्वमोहनीय में स्तोक-अल्प और मिश्र-मोहनीय में असंख्यातगुण संक्रम होता है। उससे दूसरे समय में सम्यक्त्वमोहनीय में असंख्यातगुण, इस प्रकार प्रतिसमय अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त संक्रम होता है और उसके बाद विध्यातसंक्रम होता है।

विशेषार्थ— प्रथम स्थिति के चरम समय में मिथ्यात्व के उदय में वर्तमान मिथ्यादृष्टि द्वितीयस्थितिसम्बन्धी कर्मपरमाणुओं के रस को विशुद्धि के बल से तीन प्रकार का करता है। अर्थात् द्वितीय स्थिति में वर्तमान मिथ्यात्वमोहनीय के दलिकों को रसभेद से तीन विभागों में विभाजित कर देता है। यह क्रिया अनिवृत्तिकरण के चरमसमय से—प्रथम स्थिति को अनुभव करते-करते एक समय शेष रहे, उस अन्तिम समय से— प्रारम्भ होती है।

वे तीन विभाग इस प्रकार हैं—शुद्ध, अर्धविशुद्ध और अशुद्ध। उनमें से शुद्ध पुञ्ज का नाम सम्यक्त्वमोहनीय है और उसका रस एक-स्थानक तथा मन्द द्विस्थानक एवं देशघाति है। अर्धविशुद्ध पुञ्ज का नाम मिश्रमोहनीय है और उसका रस मध्यम द्विस्थानक तथा सर्व-घाती है। अशुद्ध पुञ्ज का नाम मिथ्यात्वमोहनीय है और उसका रस तीव्र द्विस्थानक, त्रिस्थानक, चतुःस्थानक तथा सर्वघाति है।

जिस समय उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है, उस समय से लेकर मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गल-दलिकों को मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय में पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से संक्रमित करता है। यद्यपि मिथ्यात्वमोहनीय के रस को घटाकर—कम कर यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा मिश्र और सम्यक्त्व-

मोहनीय रूप करने की क्रिया अनिवृत्तिकरण के चरम समय से प्रारम्भ होती है, परन्तु गुणसंक्रम चतुर्थ गुणस्थान के प्रथम समय से प्रारम्भ होता है और वह गुणसंक्रम इस प्रकार होता है—

जिस समय उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है, उसी समय मिथ्यात्व-मोहनीय के दलिक सम्यक्त्वमोहनीय में स्तोक-अल्प संक्रमित होते हैं और उसी समय मिश्रमोहनीय में असंख्यातगुण दलिक संक्रमित होते हैं। दूसरे समय में प्रथम समय मिश्रमोहनीय में संक्रमित हुए दलिकों से असंख्यातगुण सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित होते हैं, उनसे उसी समय मिश्रमोहनीय में असंख्यातगुण संक्रमित होते हैं। तीसरे समय में दूसरे समय मिश्रमोहनीय में संक्रमित हुए दलिकों से असंख्यातगुण सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित होते हैं, उनसे उसी समय मिश्रमोहनीय में असंख्यातगुण संक्रमित होते हैं। इस क्रम से प्रति समय सम्यक्त्व और मिश्रमोहनीय में मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसक्रम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होता है। इसके पश्चात् विध्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है। तथा—

गुणसंकमेण एसो संकमो होइ सम्ममीसेसु।
अंतरकरणंमि ठिओ कुणइ जओ स पसत्थगुणो ॥२४॥

शब्दार्थ—**गुणसंकमेण**—गुण संक्रम द्वारा, **एसो**—यह, **संकमो**—संक्रम, **होइ**—होता है, **सम्ममीसेसु**—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय में, **अंतरकरणंमि**—अंतरकरण में, **ठिओ**—स्थित रहकर, **कुणइ**—करता है, **जओ**—क्योंकि, **स**—वह, **पसत्थगुणो**—प्रशस्त गुण युक्त।

गाथार्थ—ऊपर कहे अनुसार संक्रम सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय में गुणसंक्रम द्वारा होता है और वह अंतरकरण में रहते हुए करता है। क्योंकि वहाँ वह (जीव) प्रशस्त गुण युक्त है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्वमोहनीय के पुद्गलों का मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय में संक्रम गुणसंक्रम द्वारा होता है। क्योंकि अंतरकरण में

वर्तमान जीव (आत्मा) उपशमसम्यक्त्वरूप प्रशस्त गुणयुक्त है और प्रशस्त गुणयुक्त आत्मा संक्रम करती है। इसलिये अंतरकरण में रही आत्मा के गुणसंक्रम[1] प्रवर्तित होता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वमोहनीय का उपशम करते अपूर्वकरण में गुणसंक्रम क्यों नहीं होता है ?

उत्तर—उस समय मिथ्यात्वमोहनीय का बंध होता है। मिथ्यात्वमोहनीय का जब तक उदय हो, तब तक बंध भी होता है। अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदय है, अतः बंध भी वहां तक है। बंधती हुई प्रकृतियों का गुणसंक्रम नहीं होता है और अंतरकरण में उसका उदय नहीं है, इसलिये बंध भी नहीं है। जिससे अंतरकरण में मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसंक्रम होता है, यह कहा है। तथा—

गुणसंकमेणसमगं तिण्णि थक्कंत आउवज्जाणं।
मिच्छत्तस्स उ इगिदुगआवलिसेसाए पढमाए ॥२५॥

शब्दार्थ—गुणसंकमेणसमगं—गुणसंक्रम के साथ, **तिण्णि**—तीनों, **थक्कंत**—रुक जाते हैं, **आउवज्जाणं**—आयुवर्जित, **मिच्छत्तस्स**—मिथ्यात्व की, **उ**—और, **इगिदुगआवलिसेसाए**—एक और दो आवलिका शेष रहने पर, **पढमाए**—प्रथम स्थिति में।

गाथार्थ—गुणसंक्रम के साथ ही आयुवर्जित शेष कर्मों में तीनों (स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, और मिथ्यात्व की भी प्रथम स्थिति में एक और दो आवलिका शेष रहने पर पूर्वोक्त तीनों रुक जाते हैं।

---

१ अपूर्वकरण से प्रारम्भ कर अबध्यमान अशुभप्रकृतियों के दलिकों को पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से स्वजातीय बंधती प्रकृति रूप करने को गुणसंक्रम कहते हैं—गुणसंकमो अबज्झन्तिगाण असुभाणपुव्वकरणादी। गुणसंक्रम का विशेष लक्षण संक्रमकरण गाथा ७७ में देखिए।

विशेषार्थ—जब तक मिथ्यात्वमोहनीय का गुणसंक्रम होता है, तब तक आयु के बिना शेष सात कर्मों में स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणि प्रवर्तित होती है। किन्तु जब गुणसंक्रम होना बंद होता है तब स्थितिघातादि भी बंद हो जाते हैं तथा जब तक मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष रही हुई होती नहीं है, तब तक उसका स्थितिघात, रसघात होता है और एक आवलिका बाकी रहे तब वे दोनों बंद हो जाते हैं तथा मिथ्यात्वमोहनीय की प्रथम स्थिति की दो आवलिका जब तक बाकी रही हुई होती नहीं है, तब तक गुणश्रेणि भी होती है और दो आवलिका शेष रहे तब उसमें गुणश्रेणि होना बंद हो जाता है। तथा—

उवसंतद्धाअंते बिइए ओकड्ढियस्स दलियस्स।
अज्झवसाणविसेसा एकस्सुदओ भवे तिण्हं ॥२६॥

शब्दार्थ—उवसंतद्धाअंते—उपशान्ताद्धा के अंत में, **बिइए**—विधि द्वारा, **ओकड्ढियस्स**—अपकर्षित, **दलियस्स**—दलिकों का, **अज्झवसाणविसेसा**—अध्यवसाय विशेष से, **एकस्सुदओ**—एक का उदय, **भवे**—होता है, **तिण्हं**—तीन प्रकारों में से।

गाथार्थ—उपशान्ताद्धा के अंत में विधि द्वारा अपकर्षित किये गये तीन प्रकार के दलिकों में से अध्यवसाय विशेष से एक का उदय होता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के अन्तरकरण के अंतर्मुहूर्त काल का कुछ अधिक एक आवलिका काल शेष रहे तब उस समयाधिक काल पर्यन्त दूसरी स्थिति में रहे सम्यक्त्व, मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय के दलिकों को अध्यवसाय द्वारा आकृष्ट कर अंतरकरण की अंतिम आवलिका में स्थापित करता है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार है—प्रथम समय में बहुत स्थापित करता है। द्वितीय समय में उससे स्तोक, तृतीय समय में उससे स्तोक इस क्रम से आवलिका के चरम समय पर्यन्त स्थापित करता है। स्थापित किये गये उन दलिकों की रचना

गोपुच्छाकार होती है। जब कुछ अधिक काल पूर्ण हो और एक आवलिका काल शेष रहे तब अध्यवसाय के अनुसार तीनों पुंजों में से किसी एक पुंज का उदय होता है। उस समय शुभ (उत्कृष्ट) परिणाम हों तो सम्यक्त्वपुंज का, मध्यम परिणाम हों तो मिश्रपुंज का और जघन्य परिणाम हों तो मिथ्यात्वपुंज का उदय होता है। यदि सम्यक्त्वपुंज का उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। मिश्रपुंज का उदय होने पर तीसरा और मिथ्यात्वपुंज का उदय होने पर पहला गुणस्थान प्राप्त होता है। तथा—

छावलियासेसाए उवसमअद्धाइ जाव इगसमयं।
असुभपरिणामओ कोइ जाइ इह सासणत्तंपि ॥२७॥

शब्दार्थ—**छावलियासेसाए**—छह आवलिका काल शेष रहने पर, **उवसमअद्धाइ**—उपशमसम्यक्त्व अद्धा में, **जाव**—यावत्, **इगसमयं**—एक समय, **असुभपरिणामओ**—अशुभ परिणाम होने से, **कोई**—कोई, **जाइ**—जाता है, **इह**—यहाँ, **सासणत्तंपि**—सासादनत्व में भी।

गाथार्थ—उपशमसम्यक्त्व—अद्धा (काल) में, एक समय यावत् छह आवलिका काल शेष रहने पर अशुभ परिणाम होने से कोई सासादनत्व में भी जाता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व—अंतरकरण—का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका जितना काल शेष रहे, तब किसी को अनन्तानुबंधिकषाय का उदय होता है और उसका उदय होने से दूसरा सासादनगुणस्थान प्राप्त करता है और उसके बाद वहाँ से गिरकर वह अवश्य ही मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। तथा—

सम्मत्तेणं समगं सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे।
उवसंतदंसणी सो अंतर करणे ठिओ जाव ॥२८॥

शब्दार्थ—**सम्मत्तेणं समगं**—सम्यक्त्व के साथ, **सव्वं**—सर्वविरति, **देसं**—देशविरति, **च**—और, **कोइ**—कोई, **पडिवज्जे**—प्राप्त करता है, **उवसंतदंसणी**—उपशमसम्यक्त्वी; **सो**—वह, **अंतरकरणो**—अन्तरकरण में, **ठिओ**—स्थित है, **जाव**—तक, पर्यन्त।

गाथार्थ—सम्यक्त्व के साथ कोई देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करता है। जब तक अन्तरकरण में स्थित है तब तक वह उपशमसम्यक्त्वी है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के साथ ही कोई-कोई देशविरतित्व और सर्वविरतित्व को प्राप्त होते हैं। अर्थात् वे पहले से सीधे पांचवें और छठे गुणस्थान में जाते हैं किन्तु सासादन भाव को प्राप्त नहीं करते हैं।

उपशमसम्यग्दृष्टि तब तक जानना चाहिये जब तक अन्तरकरण-अवस्था रहती है और अन्तरकरण-अवस्था तब तक रहती है, जब तक अनन्तानुबंधिकषाय का उदय नहीं होता है। अध्यवसायों की निर्मलता के अनेक भेद हैं। कोई तीन करण करके पहले से चौथे गुणस्थान में ही जाता है। कोई तीव्रविशुद्धि वाला मिथ्यात्व को उपशमित करने के साथ अप्रत्याख्यानावरणकषाय का भी क्षयोपशम कर पहले से पांचवें गुणस्थान को और अतितीव्र विशुद्धपरिणाम वाला कोई दूसरी और तीसरी इस तरह दोनों कषायों का क्षयोपशम कर पहले गुणस्थान से सर्वविरति भाव को भी प्राप्त करता है। उस-उस गुण का अनुसरण करके क्रम से प्रवर्धमान विशुद्धि वाली आत्मायें पहले गुणस्थान से चौथे, पांचवें, छठे या सातवें गुणस्थान में जा सकती हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार से प्रथमसम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का आशय जानना चाहिये। अब पूर्वोक्त क्रमानुसार चारित्रमोहनीय की उपशमना का विचार भी विस्तार से करना चाहिये। अतएव चारित्रमोहनीय की उपशमना का निरूपण प्रारंभ करते हैं।

चारित्रमोहनीयोपशमना : देशविरति-सर्वविरति लाभ स्वामित्व

वेयगसम्मद्दिट्ठि सोही अद्धाए अजयमाईया ।
करणदुगेण उवसमं चरित्तमोहस्स चेट्ठंति ॥२९॥

शब्दार्थ—**वेयगसम्मद्दिट्ठि**—वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि, **सोही**—विशुद्धि, **अद्धाए**—काल में वर्तमान, **अजयमाईया**—अविरतसम्यग्दृष्टि, **करणदुगेण**—दो करणों द्वारा, **उवसमं**—उपशम, **चरित्तमोहस्स**—चारित्रमोहनीय का, **चेट्ठंति**—प्रयत्न करते हैं ।

गाथार्थ—विशुद्धि काल में वर्तमान अविरतसम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थान वाले वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि दो करण के द्वारा चारित्रमोहनीय के उपशम का प्रयत्न करते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में चारित्रमोहनीय के उपशम करने वाले अधिकारी-स्वामी का निर्देश किया है—

जिसने संक्लिष्ट परिणाम का त्याग किया है और जो विशुद्ध परिणामों में वर्तमान है, ऐसा वेदकसम्यग्दृष्टि-क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टि अविरत, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान में वर्तमान है, वह दो करण—यथाप्रवृत्त तथा अपूर्वकरण द्वारा चारित्रमोहनीय को उपशमित करने के लिए यथायोग्य रीति से प्रयत्न करता है और तीसरे—अनिवृत्तिकरण से तो साक्षात् उपशांत करता ही है, इसीलिये यहाँ आदि के दो करणों द्वारा प्रयत्न करता है, यह संकेत किया है ।

अब इसी प्रसंग में अविरतसम्यग्दृष्टि आदि का स्वरूप बतलाते हैं ।

अविरतसम्यग्दृष्टि आदि का स्वरूप

जाणणगहणणुपालणविरओ विरई अविरओण्णेसु ।
आईमकरणदुगेणं पडिवज्जइ दोण्हमण्णयरं ॥३०॥

शब्दार्थ—**जाणणगहणणुपालणविरओ**—ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन द्वारा विरत, **विरई**—विरत है, **अविरओण्णेसु**—अन्य भंगों में वर्तमान अविरत है, **आइमकरणदुगेणं**—आदि के दो करणों द्वारा, **पडिवज्जइ**—प्राप्त करता है, **दोण्हमण्णयरं**—दोनों में से अन्यतर एक को।

गाथार्थ—ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन द्वारा जो विरत है वह विरत है, अन्य भंगों द्वारा अविरत है। आदि के दो करणों द्वारा दोनों में से अन्यतर (देशविरति या सर्वविरति)—किसी एक को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—विरति-व्रत का यथार्थ ज्ञान, उसका विधिपूर्वक ग्रहण और अनुपालन करने से विरत होता है अर्थात् विधिपूर्वक आत्मसाक्षी और गुरुसाक्षी से व्रतों का उच्चारण करने रूप ग्रहण, ग्रहण किये व्रतों को बराबर पालन करने रूप अनुपालन तथा व्रतों का सम्यक् प्रकार से यथार्थ ज्ञान होने पर व्रती या विरत होता है। उसमें जिसने त्रिविध—मन-वचन-काया द्वारा उनके पापव्यापार से विराम ले लिया है, वह सर्वविरति कहलाता है और जिसने देश से—आंशिक विराम लिया—त्याग किया है उसे देशविरति कहते हैं तथा ज्ञान-ग्रहण-अनुपालन रूप भंग के सिवाय अन्य भंग में जो वर्तमान है, वह अविरत है। जिसका विस्तृत स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

ज्ञान, ग्रहण और अनुपालन रूप तीन पद के निम्नलिखित आठ भंग होते हैं—

१ अज्ञान—अग्रहण—अपालन,
२ अज्ञान—अग्रहण—पालन,
३ अज्ञान—ग्रहण—अपालन,
४ अज्ञान—ग्रहण—पालन,
५ ज्ञान—अग्रहण—अपालन,
६ ज्ञान—अग्रहण—पालन,
७ ज्ञान—ग्रहण—अपालन,
८ ज्ञान—ग्रहण—पालन।

इन आठ भंगों में से आदि के सात भंगों में वर्तमान आत्मा तो अविरत है। क्योंकि उसमें यथायोग्य रीति से सम्यग्ज्ञान, सम्यग् ग्रहण या सम्यक् पालन नहीं है। सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ग्रहणपूर्वक पालन किये जाने वाले व्रत ही मोक्ष रूप फल को प्रदान करते हैं, परन्तु सम्यक्-ज्ञान और सम्यग्ग्रहण के सिवाय घुणाक्षर न्याय से पाले जाने पर भी वे व्रत फलप्रद नहीं होते हैं। सात भंगों में से आदि के चार भंगों में तो सम्यग्ज्ञान का ही अभाव है और उसके बाद के तीन भंगों में सम्यग्ग्रहण अथवा सम्यक्पालन का अभाव है। इसीलिये आदि के सात भंगों में वर्तमान आत्मा अविरत कहलाती है। यदि और भी सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो आदि के चार भंगों में वर्तमान आत्मा तो मिथ्यादृष्टि ही है। क्योंकि उसे यथार्थ ज्ञान ही नहीं है और बाद के तीन भंग अविरतसम्यग्दृष्टि के हैं। लेकिन अन्तिम भंग में वर्तमान आत्मा व्रतों के यथार्थज्ञानपूर्वक और विधिपूर्वक उनको ग्रहण करके अनुपालन करने वाली है, इसलिये उसे विरत कहते हैं। उसमें देश से पापव्यापार का त्याग करने वाली देशविरत और सर्वथा पाप-व्यापार से विरत सर्वविरत कहलाती है।

व्रतग्रहण के भेद से देशविरत-श्रावक के अनेक प्रकार हैं। जैसे कोई एक अणुव्रती—अणुव्रत ग्रहण करने वाला, कोई दो अणुव्रती, कोई तीन अणुव्रती यावत् उत्कृष्ट से कोई पूर्ण बारह व्रतधारी और केवल अनुमति सिवाय समस्त पापव्यापार का त्याग करने वाला भी होता है।

अनुमति तीन प्रकार की है—१ प्रतिसेवनानुमति, २ प्रतिश्रवणानु-मति और ३ संवासानुमति। इनमें जो स्वयं कृत और अन्य स्वजनादि द्वारा किये गये पाप का अनुमोदन करता है और सावद्य आरम्भ से बने अशनादि का उपभोग करता है, उसे प्रतिसेवनानुमति दोष लगता है। जब पुत्रादि द्वारा किये हुए पाप कार्यों को सुनता है, सुनकर अनु-मोदन करता है—ठीक मानता है और प्रतिषेध नहीं करता है तब प्रतिश्रवणानुमति और जब पापारम्भ में प्रवृत्त पुत्रादि पर मात्र ममत्व-

युक्त होता है, किन्तु उनके किसी पापकार्य को सुनता नहीं या अच्छा नहीं मानता है, तब संवासानुमति दोष लगता है।[1] इनमें अन्तिम दोष का जो सेवन करता है वह उत्कृष्ट देशविरत है और अन्य श्रावकों से गुणों में श्रेष्ठ है। जो संवासानुमति से—पुत्रादि के ममत्व भाव से भी विरत है—वह सर्वविरत कहलाता है।

इन दो—देशविरति और सर्वविरति में से किसी भी विरति को आदि के दो करण—यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण के द्वारा प्राप्त करता है। यदि अविरति होने पर उक्त दो करण करे तो देशविरति अथवा सर्वविरति इन दोनों में से किसी एक को प्राप्त करता है और देशविरति होते उक्त दो करण करे तो सर्वविरति को ही अंगीकार करता है।

देशविरति, सर्वविरति प्राप्त करते हुए तीसरा अनिवृत्तिकरण इसलिये नहीं होता है कि करणकाल से पहले भी अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त प्रति समय अनन्तगुण बढ़ती विशुद्धि से वर्तमान अशुभकर्मों के रस को द्विस्थानक और शुभ प्रकृतियों के रस को चतुःस्थानक करता है इत्यादि जैसा पूर्व में यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण के स्वरूप निर्देश के प्रसंग में कहा गया वैसा यहाँ भी सब होता है, मात्र देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करते हुए अपूर्वकरण में गुणश्रेणि नहीं होती है और अपूर्वकरण के पूर्ण होते ही अनन्तर समय में अवश्य ही देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त करता है। इसलिये यहाँ तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं होता है। इसका कारण यह है कि सर्वथा क्षय या उपशम करना हो तो वहाँ ही अनिवृत्तिकरण होता है। देशविरति या सर्वविरति प्राप्त करते अनुक्रम से अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्या-

---

१ पहली अनुमति में स्वयं अथवा अन्य द्वारा कृत पाप आदि का अनुमोदन आदि है, दूसरी में मात्र पुत्रादि कृत पाप का अनुमोदन आदि है, तीसरी में तो वह भी नहीं है—गृहस्थ में रहने से मात्र ममत्व ही है।

नावरण कषाय का सर्वथा क्षय या सर्वथा उपशम नहीं करना पड़ता है, परन्तु क्षयोपशम करना होता है और वह तो अपूर्वकरण में ही होता है। जिससे यहाँ तीसरे करण की आवश्यकता नहीं रहती है। तथा—

उदयावलिए उप्पि गुणसेढि कुणइ चरित्तेण।
अन्तो असंखगुणणाइ तत्तियं वड्ढई कालं ॥३१॥

शब्दार्थ—**उदयावलिए**—उदयावलिका से, **उप्पि**—ऊपर, **गुणसेढि**—गुणश्रेणि, **कुणइ**—करता है, **चरित्तेण**—चारित्र से, **अन्तो**—अन्तर्मुहूर्त, **असंखगुणणाइ**—असंख्यात गुणाकार रूप से, **तत्तियं**—उतने, **वड्ढई**—प्रवर्धमान, **कालं**—काल।

गाथार्थ—उदयावलिका से ऊपर अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त असंख्यात गुणाकार रूप से गुणश्रेणि करता है। उतने काल प्रवर्धमान परिणाम वाला होता है।

विशेषार्थ—देशविरति और सर्वविरति प्राप्त करने के लिये होने वाले अपूर्वकरण में गुणश्रेणि नहीं होती, किन्तु करण पूर्ण होने के बाद देशविरति अथवा सर्वविरति चारित्र के साथ ही यानि कि जिस समय देशविरति और सर्वविरति चारित्र प्राप्त होता है, उसी समय से उदयावलिका से ऊपर के समय से लेकर पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तरोत्तर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त गुणश्रेणि—दलरचना करता है।

यद्यपि देशविरत और सर्वविरत गुणस्थान में वह गुणस्थान जब तक रहे तब तक गुणश्रेणि होती है, लेकिन यहाँ अन्तर्मुहूर्त कहने का कारण यह है कि देशविरति और सर्वविरति प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त आत्मा के अवश्य प्रवर्धमान परिणाम होते हैं, तत्पश्चात् नियम नहीं है। उसके बाद तो कोई प्रवर्धमान परिणाम वाली, कोई अवस्थित—स्थिर- पूर्व के समान परिणाम वाली और कोई

हीयमान परिणामी होती है। यदि प्रवर्धमान परिणामी हो तो गुणश्रेणि चढ़ते क्रम से करता है और हीयमान परिणामी हो तो हीयमान क्रम से और अवस्थित परिणाम होने पर अवस्थित—स्थिर गुणश्रेणि करती है।

हीयमान परिणामी आत्मा ऊपर के स्थानों में से दलिक अल्प उतारती है और अल्प स्थापित करती है। अवस्थित परिणामी पूर्व के समय में जितने दलिक उतारे थे, उतने ही उतार कर स्थापित करती है। देशविरति या सर्वविरति जब स्वभावस्थ और हीनपरिणामी हो तब स्थितिघात और रसघात नहीं करता है। तथा—

परिणामपच्चएणं गमागमं कुणइ करणरहिओवि।
आभोगणट्ठचरणो करणे काऊण पावेइ ॥३२॥

शब्दार्थ—**परिणामपच्चएणं**—(अनाभोग) परिणाम के निमित्त से, **गमागमं**—गमनागमन, **कुणइ**—करती है, **करणरहिओवि**—करण किये बिना भी, **आभोगणट्ठचरणो**—आभोग (उपयोग) पूर्वक जिसका चारित्र नष्ट हुआ है, **करणे**—करण को, **काऊण**—करके, **पावेइ**—प्राप्त करता है—चढ़ता है।

गाथार्थ—(अनाभोग) परिणाम के निमित्त से आत्मा करण किये बिना भी गमनागमन करती है। उपयोगपूर्वक जिसका चारित्र नष्ट हुआ है वह दो करण करके ही प्राप्त करती है—चढ़ती है।

विशेषार्थ—अनाभोग (उपयोग सिवाय) परिणाम के ह्रास रूप निमित्त से गिरते परिणाम होने से देशविरति आत्मा अविरति को प्राप्त करती है अथवा सर्वविरति देशविरति या अविरति को प्राप्त करे तो वह फिर से भी पूर्व में प्राप्त देशविरति और सर्वविरति को करण किये बिना ही प्राप्त करती है। इस प्रकार करण किये बिना भी अनेक बार गमनागमन करती है, परन्तु जिसने आभोग (उपयोग) पूर्वक अपने चारित्र को नष्ट किया है और वैसा करके देशविरति से अथवा सर्वविरति से गिरकर मिथ्यात्व पर्यन्त भी जो गई है, वह पुनः

जघन्य से अन्तर्मुहूर्त काल और उत्कृष्ट से बहुत काल में पूर्व प्रतिपन्न देशविरति अथवा सर्वविरति को उक्त प्रकार से—दो करण करके ही प्राप्त करती है। इसका कारण यह है कि आभोग (उपयोग) पूर्वक गिरा हुआ जीव क्लिष्ट परिणामी होता है, जिससे वह करण किये बिना चढ़ नहीं सकता है, किन्तु कोई इसी प्रकार के कर्म के उदय से अनाभोग के कारण गिरा हुआ हो तो वह तथाप्रकार के क्लिष्ट परिणाम नहीं होने से करण किये बिना ही चढ़ जाता है। तथा—

परिणामपच्चएणं चउव्विहं हाइ वड्ढई वावि।
परिणामवड्ढयाए गुणसेढि तत्तियं रयइ ॥३३॥

शब्दार्थ—**परिणामपच्चएणं**—परिणाम के निमित्त से, **चउव्विहं**—चार प्रकार से, **हाइ**—घटती है, **वड्ढई**—बढ़ती है, **वावि**—अथवा, **परिणामवड्ढयाए**—परिणाम के अवस्थित रहने पर, **गुणसेढि**—गुणश्रेणि, **तत्तियं**—उतनी ही, **रयइ**—रचता है।

गाथार्थ—परिणाम के निमित्त से गुणश्रेणि चार प्रकार से घटती है अथवा बढ़ती है, परिणाम के अवस्थित रहने पर उतनी ही रचता है।

विशेषार्थ—परिणाम रूप कारण द्वारा गुणश्रेणि बढ़ती है और घटती है। यानि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में यदि परिणाम प्रवर्धमान हों तो ऊपर के स्थानों में से अनुक्रम से अधिक-अधिक दलिक लेकर अधिक-अधिक स्थापित करता है। स्थिर परिणामी हो तो उतने लेकर उतने ही स्थापित करता है और हीयमान परिणामी हो तो ऊपर से अल्प दलिक लेता है और अल्प स्थापित करता है।

देशविरति और सर्वविरति प्राप्त होने के बाद अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त तो आत्मा अवश्य प्रवर्धमान परिणाम वाली ही होती है किन्तु उसके बाद का नियम नहीं है। कोई हीनपरिणामी होती है, कोई अवस्थित-परिणामी और प्रवर्धमानपरिणामी भी होती है। इसी कारण गुण-

श्रेणि में—ऊपर से दलिकों को उतार कर रचना में भी फेरफार होता है। यदि हीनपरिणामी—पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय-समय में मन्द परिणामी आत्मा होती जाये तो गुणश्रेणि भी असंख्यातभाग-हीन, संख्यातभागहीन, संख्यातगुणहीन या असंख्यातगुणहीन होती है। अर्थात् ऊपर से इतने-इतने कम उतार कर नीचे हीन-हीन स्थापित करती है।

यदि पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में परिणाम प्रवर्धमान होते जायें तो परिणामानुसार गुणश्रेणि भी पूर्वोक्त प्रकार से बढ़ती है और पूर्व समय में जैसे परिणाम थे, वैसे ही उत्तर समय में भी परिणाम रहें तो गुणश्रेणि भी उतनी ही होती है। यानि पूर्वसमय में जितने दलिक उतारे थे और जिस क्रम से स्थापित किये थे उतने ही उत्तर समय में उतार कर स्थापित करती है।

गुणश्रेणि के क्रम से होने वाली दलरचना अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थानों में होती है और देशविरति तथा सर्वविरति गुणस्थान जब तक रहें, तब तक वह भी समय-समय होती रहती है।

इस प्रकार से देशविरति और सर्वविरति की प्राप्ति का क्रम जानना चाहिये। अब अनन्तानुबंधी की विसंयोजना का स्वरूप-निर्देश करते हैं।

अनन्तानुबंधि-विसंयोजना

सम्मुप्पायणविहिणा चउगइया सम्मदिट्ठिपज्जत्ता।
संजोयणा विजोयन्ति न उण पढमट्ठितिं करेंति ॥३४॥

शब्दार्थ—**सम्मुप्पायणविहिणा**—सम्यक्त्वोत्पाद की विधि से, **चउगइया**—चारों गति के जीव, **सम्मदिट्ठि**—सम्यग्दृष्टि, **पज्जत्ता**—पर्याप्त, **संजोयणा**—संयोजना-अनन्तानुबंधी की, **विजोयन्ति**—विसंयोजना करते हैं, **न**—नहीं, **उण**—किन्तु, **पढमट्ठितिं**—प्रथम स्थिति, **करेंति**—करते हैं।

गाथार्थ—पूर्वोक्त सम्यक्त्वोत्पाद की विधि से चारों गति के पर्याप्त (क्षायोपशमिक) सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते हैं परन्तु (तीसरे करण में) प्रथमस्थिति नहीं करते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ अनन्तानुबंधी के विसंयोजक का स्वरूप बताया है कि उपशमसम्यक्त्वप्राप्ति के समय जो तीन करण कहे हैं, उन्हीं तीन करणों के क्रम से चारों गति के संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव चौथे से सातवें गुणस्थान तक में वर्तमान—उनमें से चौथे गुणस्थान में वर्तमान चारों गति के जीव, देशविरति तिर्यंच और मनुष्य तथा सर्वविरति मनुष्य ही अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते हैं। किन्तु उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करते अनिवृत्तिकरण में जो अन्तरकरण होता है, वह यहाँ नहीं होता है और उसके नहीं होने से प्रथमस्थिति भी नहीं होती है। क्योंकि अन्तरकरण के नीचे की छोटी स्थिति प्रथम स्थिति और ऊपर की द्वितीय—बड़ी स्थिति कहलाती है। यहाँ जब अन्तरकरण ही नहीं होता है, परन्तु उद्वलनानुविद्ध गुणसंक्रम द्वारा सर्वथा नाश ही होता है तो फिर प्रथम-द्वितीय स्थिति कैसे हो सकती है ? अर्थात् अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते हुए अनिवृत्तिकरण में प्रथमस्थिति या अन्तरकरण नहीं होता है। जिसके सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उवरिमगे करणदुगे दलियं गुणसंकमेण तेसिं तु।
नासेइ तओपच्छा अन्तमुहुत्ता सभावत्थो ॥३५॥

शब्दार्थ—**उवरिमगे**—ऊपर के, **करणदुगे**—दो करणों में, **दलियं**—दलिक, **गुणसंकमेण**—गुणसंक्रम द्वारा, **तेसिंतु**—उनका (अनन्तानुबंधि के दलिकों का) **नासेइ**—नाश करता है, **तओपच्छा**—उसके बाद, **अन्तमुहुत्ता**—अन्तर्मुहूर्त, **सभावत्थो**—स्वभावस्थ।

गाथार्थ—ऊपर के दो करण में गुणसंक्रमण द्वारा उनका (अनन्तानुबंधि के दलिकों का) नाश करता है और अन्तर्मुहूर्त बाद स्वभावस्थ होता है।

विशेषार्थ—ऊपर के दो करण—अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण—में अनन्तानुबंधि क्रोध, मान, माया और लोभ के दलिकों का उद्वलनासंक्रमानुविद्ध गुणसंक्रम द्वारा सर्वथा नाश करता है, यानि बंधती हुई शेष कषाय रूप कर देता है। ऊपर के गुणस्थानों में जिस कर्म का सर्वथा नाश करना हो, उनमें के बहुतसों में उद्वलनासंक्रम और गुणसंक्रम दोनों होते हैं, जिससे अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में उनका सर्वथा नाश होता है और यहाँ अनन्तानुबंधि का सर्वथा नाश करता है जिससे अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में उद्वलनायुक्त गुणसंक्रम द्वारा मात्र अन्तर्मुहूर्त में ही उसका सर्वथा नाश करता है और मात्र एक उदयावलिका अवशिष्ट रहती है। इसका कारण यह है कि उसमें कोई करण नहीं लगता है। शेष रही वह आवलिका स्तिबुकसंक्रम द्वारा वेद्यमान स्वजातीय प्रकृति में संक्रमित होकर दूर होती है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त के बाद अनिवृत्तिकरण के अन्त में शेष कर्मों का भी स्थितिघात और गुणश्रेणि नहीं होती है, परन्तु मोहनीय की चौबीस प्रकृतियों की सत्ता वाला होता हुआ स्वभावस्थ ही रहता है।

इस प्रकार से अनन्तानुबंधि की विसंयोजना का स्वरूप जानना चाहिये। किन्तु जो आचार्य उपशमश्रेणि करते हुए अनन्तानुबधि की उपशमना मानते हैं, उनके मतानुसार अनन्तानुबंधि की उपशमना विधि इस प्रकार है—

अनन्तानुबंधि उपशमना : अन्य मतान्तर

अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में से किसी भी एक गुणस्थान में वर्तमान जीव अनन्तानुबंधि की उपशमना का प्रयत्न करता है। वह मन, वचन और काय इन तीन योगों में से किसी भी एक योगयुक्त होता है। तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या में से कोई भी एक शुभ लेश्या वाला, साकारोपयोग में उपयुक्त, अन्तः कोडाकोडी सागरोपम स्थिति की सत्ता वाला भव्य जीव होता है तथा वह परावर्तमान पुण्यप्रकृतियों का बंधक होता है एवं प्रति समय अशुभ प्रकृतियों के रस को अनन्तगुण हीन करता है तथा शुभ प्रकृतियों के

रस को अनन्तगुण बढ़ाता है। स्थितिबंध भी पूर्ण हो तब जैसे-जैसे पूर्ण होता जाता है वैसे-वैसे अन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग[1] हीन-हीन करता है। इस प्रकार करण प्रारम्भ करने के पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्मल परिणाम वाला रहता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त-काल प्रमाण तीन करण करता है—१ यथाप्रवृत्तकरण, २ अपूर्वकरण, ३ अनिवृत्तिकरण तथा चौथा उपशान्ताद्धा।

उसमें यथाप्रवृत्तकरण में प्रवेश करता जीव पूर्व-पूर्व समय से अनन्तगुण प्रवर्धमान परिणामों से प्रवेश करता है, किन्तु तद्योग्य विशुद्धि के अभाव में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि या गुणसंक्रम इनमें से एक को भी नहीं करता है। उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण यथाप्रवृत्तकरण के काल में प्रत्येक समय में त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्य लोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान होते हैं और प्रत्येक समय के वे विशुद्धिस्थान षट्स्थानपतित हैं तथा प्रथम समय में जो विशुद्धिस्थान हैं, उनसे दूसरे समय में अधिक होते हैं, तीसरे समय में उनसे अधिक, इस तरह पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त अधिक-अधिक होते हैं। तथा—

यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में जघन्यविशुद्धि अल्प, उससे द्वितीय समय में जघन्यविशुद्धि अनन्तगुण, उससे तृतीय समय में जघन्यविशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह यथाप्रवृत्तकरण के संख्यातवें भाग पर्यन्त जानना चाहिये। उससे यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे संख्यातवें भाग के बाद के समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे द्वितीय समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे संख्यातवें भाग के बाद के दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण,

---

१ कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह के कर्ता पल्योपम के संख्यातवें भागहीन मानते हैं।

उससे संख्यातवें भाग के बाद के तीसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, इस तरह ऊपर के एक-एक समय की उत्कृष्ट और संख्यातवें भाग के बाद के एक-एक समय की जघन्य अनन्तगुण विशुद्धि यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये। यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम संख्यातवें भाग में जो उत्कृष्ट विशुद्धि अनुक्त है उसे भी उत्तरोत्तर अनन्तगुण समझना चाहिये। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण में विशुद्धि का तारतम्य होता है।

इस तरह से यथाप्रवृत्तकरण पूर्ण कर अपूर्वकरण में प्रवेश करता है। अपूर्वकरण में भी प्रति समय नाना जीवों की अपेक्षा असंख्यात-लोकाकाशप्रदेशप्रमाण विशुद्धि के स्थान होते हैं और पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में अधिक होते हैं तथा प्रत्येक समय के विशुद्धि स्थान षट्स्थानपतित हैं।

विशुद्धि का तारतम्य इस प्रकार है—यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से अपूर्वकरण के प्रथम समय की जघन्य-विशुद्धि अनन्तगुणी होती है, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है। इस प्रकार अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त विशुद्धि का तारतम्य होता है तथा अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अन्य स्थितिबंध ये पाँच बातें एक साथ प्रारम्भ होती हैं। जिनका आशय इस प्रकार है—

स्थितिघात—अर्थात् जो सत्तागत स्थिति के ऊपर के भाग में से अधिक-से-अधिक सैकड़ों सागरोपम प्रमाण और कम-से-कम पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति के खण्ड हैं, उनका क्षय करने का प्रयत्न करता है—उतने स्थान में के दलिकों को हटाकर भूमि साफ करने का प्रयत्न करता है। उसके दलिकों को नीचे जिस स्थिति का घात नहीं होना है, उसमें निक्षिप्त करता है। इस तरह पूर्व-पूर्व समय

से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण अधिक दलिकों को ग्रहण करता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल में उतनी स्थिति का नाश करता है। पुनः उपर्युक्त क्रम से पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण दूसरा खण्ड लेता है और अन्तर्मुहूर्त में उसका नाश करता है। इस रीति से अपूर्वकरण के काल में हजारों स्थितिघात करता है। अपूर्वकरण में प्रथम समय जो स्थितिसत्ता थी, उससे चरम समय में संख्यातगुणहीन होती है, अर्थात् संख्यातवें भाग की शेष रहती है।

रसघात—अर्थात् अशुभ प्रकृतियों का सत्ता में जो रस है, उसका अनन्तवाँ भाग रख शेष अनन्त भागों को समय-समय नाश करता अन्तर्मुहूर्त काल में पूरी तरह से नाश करता है। तत्पश्चात् शेष रखे अनन्तवें भाग का अनन्तवाँ भाग रखकर शेष अनन्त भागों को समय-समय में नाश करता हुआ अन्तर्मुहूर्त में नाश करता है और शेष रखे अनन्तवें भाग का अनन्तवाँ भाग रखकर अनन्त भागों को समय-समय नाश करता हुआ अन्तर्मुहूर्त काल में नाश करता है। इस प्रकार से एक स्थितिघात जितने काल में हजारों रसघात करता है।

गुणश्रेणि—उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति मे ऊपर के स्थानों में से दलिक ग्रहण करके उनको उदयावलिका मे ऊपर के समय से प्रारम्भ कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समयों में पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है। इस प्रकार प्रतिसमय अन्तर्मुहूर्त से ऊपर के स्थानों में से असंख्यात-असंख्यात गुण अधिक दलिकों को उतार कर उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर पूर्वोक्त क्रम से स्थापित करता है। इस गुणश्रेणि—दलरचना का अन्तर्मुहूर्त अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से बड़ा है। यानि अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो दलिक उतारता है, उनको उदयावलिका छोड़ उसके ऊपर के समय से लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण से अधिक समयों में स्थापित करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के समयों को भोगकर जैसे-जैसे समाप्त करता जाता है, वैसे-वैसे दलरचना शेष-शेष समयों में होती

है, परन्तु ऊपर नहीं बढ़ाता है। यानि अपूर्वकरण के पहले समय में गुणश्रेणि का जो अन्तिम समय था, वही चरम समय के रूप में बना रहता है।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि जिसका उदय होता है, उसकी गुणश्रेणि उदय समय से प्रारम्भ होती है और जिसका उदय नहीं होता है, उसकी गुणश्रेणि प्रदेशोदयावलिका छोड़कर ऊपर के समय से होती है।

गुणसंक्रम—अपूर्वकरण के प्रथम समय में अनन्तानुबंधि के दलिक स्वजातीय बधती परप्रकृति में अल्प संक्रमित करता है, दूसरे समय में असंख्यातगुण अधिक संक्रमित करता है, तीसरे समय में उससे भी असंख्यातगुण अधिक संक्रमित करता है। इस तरह पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण अधिक यावत् अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त सक्रमित करता है। अनन्तानुबंधि की उपशमना करते गुणसंक्रमण मात्र अनन्तानुबधि का ही होता है। अबध्यमान प्रत्येक अशुभ प्रकृति का गुणसक्रमण तो आठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है।

अन्यस्थितिबंध—अपूर्वकरण के प्रथम समय में अपूर्व—अल्प स्थितिबंध करता है। तत्पश्चात् होने वाला दूसरा स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन करता है। इस तरह आगे-आगे के स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग न्यून-न्यून होते जाते हैं। स्थितिघात और स्थितिबंध का काल तुल्य है। अर्थात् स्थितिघात और स्थितिबध साथ ही प्रारम्भ होते हैं और साथ ही पूर्ण होते हैं।

इस प्रकार से इन पाँच पदार्थों को अपूर्वकरण में युगपद् आरम्भ करता है। एक साथ चढ़े हुए जीवों में भी अध्यवसाय का तारतम्य होता है, जिससे उसका निवृत्ति ये दूसरा नाम भी है।

अपूर्वकरण पूर्ण करके अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। अपूर्वकरण वहाँ तक कहलाता है कि जहाँ तक चढ़े हुए जीवों में अध्यवसाय का तारतम्य होता है। इसके बाद जिस समय से साथ च हुए

जीव समान परिणाम वाले होते हैं, उस समय से अनिवृत्तिकरण की शुरुआत होती है। इस करण में प्रत्येक समय एक साथ चढ़े हुए प्रत्येक जीव के अध्यवसाय समान होते हैं, मात्र पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। जिससे इस करण के जितने समय, उतने ही विशुद्धि के स्थान हैं। अपूर्वकरण की तरह यहाँ भी पूर्वोक्त स्थितिघात आदि पांचों पदों को एक ही साथ प्रारम्भ करता है और अनिवृत्तिकरण के संख्यातभाग जायें और एक संख्यातवां भाग शेष रहे तब अनन्तानुबंधि का अन्तरकरण करता है। यहाँ अनन्तानुबंधि का उदय नहीं होने से नीचे एक आवलिका को छोड़कर ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण के दलिकों को बध्यमान पर-प्रकृति में संक्रमित करता है और अभिनव स्थितिबंध या स्थितिघात करते जितना समय जाता है उतने समय में खाली करता है। प्रथमस्थिति के आवलिकागत दलिकों को स्तिबुकसंक्रम द्वारा वेद्यमान परप्रकृति में संक्रमित कर समाप्त—निःशेष करता है।

जिस समय अन्तरकरणक्रिया प्रारम्भ होती है, उसके दूसरे समय से द्वितीय स्थितिगत अनन्तानुबंधि के दलिक को उपशमित करना प्रारम्भ करता है। प्रथम समय में स्तोक, दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल में सम्पूर्णतया उपशमित करता है। उपशमित करता है यानि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उदय, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निद्धत्ति, निकाचना और उदीरणा के अयोग्य करता है। उपशांत हुए दलिकों में अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उक्त कोई करण नहीं लगता है, उसी प्रकार प्रदेश या रस से उदय भी नहीं होता है।

इस प्रकार जो आचार्य अनन्तानुबंधि की उपशमना मानते हैं उनके मतानुसार उसकी उपशमना की यह विधि है।[1]

---

१ अनन्तानुबंधिनी की यह विधि षडशीति वृत्ति से यहाँ उद्धृत की है।
—सम्पादक

अब दर्शनमोहनीय की क्षपणा की विधि का निरूपण करते हैं।

दर्शनमोहक्षपणानिरूपण

दंसणखवणस्सरिहो जिणकालीओ पुमट्ठवासुवरिं ।
अणणासकमा करणाइ करिय गुणसंकमं तहय ॥३६॥

अप्पुव्वकरणसमगं गुणउव्वलणं करेइ दोण्हंपि ।
तक्करणाइं जं तं ठिइसंतं संखभागन्ते ॥३७॥

शब्दार्थ—**दंसणखवणस्सरिहो**—दर्शनमोहनीय की क्षपणा के योग्य, **जिणकालीओ**—जिनकालिक, **पुमट्ठवासुवरि**—आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला पुरुष, **अणणासकमा**—अनन्तानुबंधि के नाश (विसंयोजना) में कहे गये क्रम से, **करणाइ**—करणों को, **करिय**—करके, **गुणसंकम**—गुणसंक्रम, **तहय**—उसी प्रकार।

अप्पुव्वकरणसमगं—अपूर्वकरण के साथ, **गुणउव्वलणं**—गुण और उद्वलना संक्रम, **करेइ**—करता है, **दोण्हंपि**—दोनों का भी, **तक्करणाइं**—उस अपूर्वकरण के आदि में, **जं**—जो, **तं**—उस, **ठिइसंतं**—स्थितिसत्ता को, **संखभागन्ते**—अंत में संख्यातवें भाग।

गाथार्थ—आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला जिनकालिक पुरुष दर्शनमोहनीय की क्षपणा के योग्य है। वह अनन्तानुबंधि की विसंयोजना में कहे गये तीन करण के क्रम से करणों को करके तथा उसी प्रकार गुणसंक्रम करके—

अपूर्वकरण के साथ ही दोनों (मिश्र और मिथ्यात्व मोहनीय) का गुणसंक्रम और उद्वलनासंक्रम करता है, जिससे अपूर्वकरण की आदि में वर्तमान स्थितिसत्ता को अंत में संख्यातवें भाग करता है।

विशेषार्थ—जिस काल में तीर्थंकर विराजमान हैं, उस काल में उत्पन्न ऐसा जिनकालिक आठ वर्ष से अधिक की आयु वाला प्रथम संहननी मनुष्य (पुरुष) दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व

मोहनीय—की क्षपणा करने के लिये अधिकारी है—योग्य है और वह अनन्तानुबंधि की विसंयोजना में बताये गये अनुसार तीन करण तथा गुणसंक्रम करके दर्शनमोहनीयत्रिक का सर्वथा नाश करता है।

जिसका विस्तार से स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दर्शनमोहनीय का क्षय करने के लिये प्रयत्न करता जीव यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करता है। अर्थात् इन करणों में जैसे पूर्व में स्थितिघात आदि जो कुछ भी करना कहा गया है, उसी तरह यहाँ भी यथायोग्य रीति से करता है। अन्य गुणस्थान में अल्प विशुद्धि थी जिससे अधिक काल में थोड़ा कार्य होता था। दर्शनमोहनीय की क्षपणा चौथे से सातवें गुणस्थान तक होती है। उनकी विशुद्धि अनन्तगुण अधिक होने से अल्प काल में स्थितिघातादि अधिक प्रमाण होते हैं। विशेष यह है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर उद्वलनासंक्रम युक्त गुणसंक्रम प्रवर्तित होता है। गुणसंक्रम द्वारा मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में डालता है। जिसमें उन दोनों के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय रूप करता है और उद्वलनासंक्रम द्वारा स्थिति के खंड करके स्व और पर में प्रक्षिप्त कर नाश करता है। उनमें प्रथम-स्थिति खंड बृहद् उसके बाद उत्तरोत्तर छोटे-छोटे स्थितिखंड करता है। इस तरह अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त होता है।

यहाँ इतना विशेष है कि अपूर्वकरण के प्रथम समय से लेकर अनुदित मिश्र और मिथ्यात्वमोहनीय में उद्वलना और गुण ये दोनों संक्रम होते हैं, किन्तु सम्यक्त्वमोहनीय में तो मात्र उद्वलनासंक्रम ही होता है। इसका कारण यह है कि दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होता है। उसके दलिकों को तो नीचे उतार कर उदयसमय से लेकर गुणश्रेणि क्रम से स्थापित करता है।

इस प्रकार उद्वलनानुविद्ध गुणसंक्रम द्वारा मिथ्यात्व और मिश्र की स्थिति कम होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय में उन दोनों की

जितनी स्थितिसत्ता थी, उसके संख्यातवें भाग जितनी ही चरम समय में सत्ता रहती है। तथा—

एवं ठिइबंधो वि हु पविसइ अणियट्टिकरणसमयंमि।
अप्पुव्वं गुणसेढिं ठितिरसखंडाणि बंधं च ॥३८॥

देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहियं च होय दिट्ठितिगं।
कमसो असण्णिचउरिंदियाइतुल्लं च ठितिसंतं ॥३९॥

ठितिखंडसहस्साइं एक्केक्के अंतरंमि गच्छंति।
पलिओवम संखंसे दंसणसंते तओ जाए ॥४०॥

शब्दार्थ—**एव**—इसी प्रकार, **ठिइबन्धो वि**—(अपूर्व) स्थितिबंध भी, **हु**—निश्चयवाचक अव्यय, **पविसइ**—प्रवेश करता है, **अणियट्टिकरणसमयंमि**—अनिवृत्तिकरण काल में, **अप्पुव्वं**—अपूर्व, **गुणसेढिं**—गुणश्रेणि, **ठितिरसखण्डाणि**—स्थिति और रसघात, **बंधं**—बंध, **च**—और।

देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहियं—देशोपशमना, निकाचना, निधत्तिरहित, **च**—और, **होइ**—होती है, **दिट्ठितिगं**—दृष्टित्रिक, **कमसो**—क्रमशः, **असण्णिचउरिंदियाइतुल्लं**—असंज्ञी पंचेन्द्रिय और चतुरिन्द्रियादि के तुल्य, **च**—और, **ठितिसंतं**—स्थितिसत्ता।

ठितिखण्डसहस्साइं—हजारों स्थितिखण्ड, **एक्केक्के**—एक-एक, **अन्तरंमि**—अन्तर में, **गच्छन्ति**—होते हैं, **पलिओवमसंखंसे**—पल्योपम के संख्यातवें भाग, **दंसणसंतं**—दर्शनमोहनीय की सत्ता, **तओ**—तब, **जाए**—होने पर।

गाथार्थ—इसी प्रकार अपूर्व स्थितिबन्ध भी होता है, तत्पश्चात् अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है, उस समय अपूर्व श्रेणि, स्थिति और रसघात और बन्ध करता है।

अनिवृत्तिकरण में दृष्टित्रिक देशोपशमना, निकाचना, निधत्ति

रहित होती है और हजारों स्थितिघात होने के बाद असंज्ञी पंचेन्द्रिय और चतुरिन्द्रियादि के तुल्य स्थितिसत्ता होती है।

एक-एक अन्तर में हजारों स्थितिखण्ड (घात) होते हैं। जिससे दर्शनमोहनीय की पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। तब ऐसा होने पर (जो होता है उसको आगे कहते हैं)।

विशेषार्थ—इसी प्रकार स्थितिबन्ध के लिये भी समझना चाहिए। यानि अपूर्वकरण के प्रथम समय से चरम समय में जैसे संख्यात गुणहीन-स्थिति की सत्ता रहती है, उसी प्रकार स्थितिबंध भी अपूर्वकरण के प्रथम समय से चरम समय में संख्यातगुणहीन—संख्यातवें भाग प्रमाण रहता है।[1]

अपूर्वकरण पूर्ण होने के बाद अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करता है। प्रवेश के प्रथम समय से ही लेकर अपूर्व गुणश्रेणि, अपूर्व स्थिति और रस का घात तथा अपूर्व स्थितिबन्ध होता है। अपूर्व-करण से इस करण में अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम होने से और इस करण में दर्शनमोहनीयत्रिक का सर्वथा नाश होता है, इसलिये अपूर्व स्थितिघात आदि होते हैं।

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से लेकर दर्शनमोहनीय की तीनों प्रकृतियों में देशोपशमना, निकाचना और निधत्ति इन तीन करणों में से एक भी करण प्रवर्तित नहीं होता है तथा दर्शनमोहनीय की स्थिति-सत्ता स्थितिघातादि से कम होते-होते हजारों स्थितिघात होने के बाद असंज्ञी पंचेन्द्रिय की स्थिति सत्ता के तुल्य होती है। उसके बाद पुनः हजारों स्थितिघात होने के बाद चतुरिन्द्रिय की स्थितिसत्ता के बराबर सत्ता होती है, उसके बाद भी उतने ही स्थितिघात होने के बाद त्रीन्द्रिय की स्थितिसत्ता के समान सत्ता होती है। तत्पश्चात् भी

---

१ यद्यपि दर्शनमोहनीयत्रिक में से एक का भी बन्ध नहीं होता है, परन्तु जिन कर्मों का बंध होता है, उनका स्थितिबंध उक्त प्रमाण है।

हजारों स्थितिघात होने के बाद द्वीन्द्रिय की स्थितिसत्ता के तुल्य स्थिति होती है और उसके बाद उतने ही हजारों स्थितिघात होते हैं तब एकेन्द्रिय की स्थितिसत्ता के बराबर सत्ता होती है। उसके बाद पुनः हजारों स्थितिघात होने के बाद पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति की सत्ता बाकी रहती है। यथा—

अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तर-अन्तर में हजारों स्थितिघात होने के बाद अनुक्रम से जो असंज्ञिपंचेन्द्रिय आदि के तुल्य स्थिति की सत्ता होती है और इस प्रकार से स्थिति घटते-घटते जब तीनों दर्शनमोहनीय की पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है, तब जो होता है, वह इस प्रकार है—

संखेज्जा संखिज्जा भागा खण्डइ सहससो तेवि ।
तो मिच्छस्स असंखा संखेज्जा सम्ममीसाणं ॥४१॥

शब्दार्थ—संखेज्जा संखिज्जा—संख्याता-संख्याता, **भागा**—भाग, **खण्डइ**—खण्ड करता है, **सहससो**—हजारों, **तेवि**—उनके भी, **तो**—उसके बाद, **मिच्छस्स**—मिथ्यात्व के, **असंखा**—असंख्यात, **संखेज्जा**—संख्यात, **सम्ममीसाणं**—सम्यक्त्व और मिश्र के।

गाथार्थ—(दर्शनमोहनीयत्रिक की पल्योपम के संख्यातवें भागप्रमाण स्थितिसत्ता होने के बाद) संख्याता-संख्याता भाग खण्ड करता है—उनके भी वैसे हजारों खण्ड करता है। उसके बाद मिथ्यात्व के असंख्यात और सम्यक्त्व तथा मिश्र मोहनीय के संख्याता-संख्याता भाग प्रमाण स्थितिघात करता है।

विशेषार्थ—दर्शनमोहनीयत्रिक की पल्योपम के संख्यातवें भागप्रमाण स्थिति की सत्ता जब होती है तब उस सत्तागत पल्योपम के संख्यातवें भागप्रमाण स्थिति के संख्याता भाग करके एक भाग रख शेष समस्त भागों का नाश करता है। इसी प्रकार जितनी स्थिति सत्ता में है, उसके संख्याता भाग करके एक भाग रख सबका नाश करता है।

फिर जितनी स्थिति अवशिष्ट है उसके संख्याता भाग कर एक भाग रख शेष सभी भागों का नाश करता है। इस प्रकार हजारों स्थिति-घात हो जाते हैं।

जब से पल्योपम के संख्यातवें भाग जितनी सत्ता हुई तब से अभी तक तीनों दर्शनमोहनीय की सत्तागत स्थिति के संख्याता-संख्याता भाग कर एक-एक भाग रख अवशिष्ट स्थिति का नाश करता था और अब इसके बाद मिथ्यात्वमोहनीय की सत्ता में जो स्थिति है, उसके असंख्याता भाग कर एक रख शेष समस्त स्थिति का नाश करता है और मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय के तो संख्याता-संख्याता भाग कर एक भाग रख शेष सभी भागों का नाश करता है। तथा—

तत्तो बहुखंडंते खंडइ उदयावलीरहियमिच्छं।
तत्तो असंखभागा सम्मामीसाण खंडेइ॥४२॥
बहुखंडंते मीसं उदयावलिबाहिरं खिवइ सम्मे।
अडवाससंतकम्मो दंसणमोहस्स सो खवगो॥४३॥

शब्दार्थ—**तत्तो**—उसके बाद, **बहुखंडंते**—बहुत से खंडों के अन्त में, **खंडइ**—नाश करता है, **उदयावलीरहियमिच्छं**—उदयावलिका से रहित मिथ्यात्व को, **तत्तो**—तत्पश्चात्, **असंखभागा**—असंख्याता भाग, **सम्मामीसाण**—सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के, **खंडेइ**—नाश करता है।

बहुखंडंते—बहुत से खंडों के अंत में, **मीसं**—मिश्रमोहनीय को, **उदयावलिबाहिरं**—उदयावलिका से ऊपर के, **खिवइ**—निक्षिप्त करता है, **सम्मे**—सम्यक्त्व में, **अडवाससंतकम्मो**—मोहनीय कर्म की आठ वर्ष की सत्ता वाला, **दंसणमोहस्स**—दर्शनमोहनीय का, **सो**—वह, **खवगो**—क्षपक।

गाथार्थ—उसके बाद बहुत से खंडों के अन्त में उदयावलिका से रहित मिथ्यात्वमोहनीय का नाश करता है, उसके बाद मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय के असंख्याता भागों को खंडित करता है।

तत्पश्चात् बहुत से खंडों के अन्त में उदयावलिका से ऊपर के मिश्रमोहनीय के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में निक्षेप करता

है, उस समय सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष की सत्ता वाला वह दर्शनमोहनीय का क्षपक कहलाता है।

विशेषार्थ—इस रीति से मिथ्यात्वमोहनीय की सत्तागत स्थिति के असंख्याता भाग करके एक भाग रख शेष सबका नाश करता है। इसी प्रकार जो स्थिति सत्ता में है, उसके असंख्याता भाग करके, एक भाग रख शेष सबका नाश करता है। इस क्रम से मिथ्यात्वमोहनीय का स्थितिघात करता हुआ बहुत से स्थितिघात होने के बाद उदयावलिका को छोड़कर शेष समस्त मिथ्यात्व की स्थिति का नाश करता है। उस समय मिश्र और सम्यक्त्वमोहनीय की पल्योपम के असंख्यातवें भाग जितनी स्थितिसत्ता रहती है।

जिस-जिस स्थिति का घात होता है, उसके दलिकों की प्रक्षेप विधि इस प्रकार है—

जिन-जिन स्थितियों का घात होता है, उनमें के मिथ्यात्व के दलिकों को मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय इन दोनों में निक्षिप्त करता है। मिश्रमोहनीय के सम्यक्त्वमोहनीय में निक्षिप्त करता है और सम्यक्त्वमोहनीय के नीचे उदयसमय से लेकर गुणश्रेणि के क्रम से स्थापित करता है। मिथ्यात्वमोहनीय की जो उदयावलिका शेष रही है, उसको स्तिबुकसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय में निक्षिप्त करता है।

मिथ्यात्वमोहनीय की जब से उदयावलिका शेष रही तब से मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय की सत्तागत स्थिति के असंख्याता भाग करता है और एक भाग बाकी रख शेष समस्त भागों का नाश करता है तथा जो सत्ता में है उसके असंख्याता भाग करके एक भाग रख शेष सबका नाश करता है। इस प्रकार से कितने ही स्थितिघात जाने के बाद मिश्रमोहनीय की एक उदयावलिका प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। उस समय सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है। इस तरह उदयावलिका से ऊपर का मिश्रमोहनीय का

समस्त दल नाश हो जाता है और उदयावलिका सम्यक्त्व में स्तिबुक-संक्रम द्वारा संक्रमित हो जाती है।

सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता वाला जीव उस समय उसके समस्त विघ्न नष्ट होने से निश्चयनय के मतानुसार दर्शनमोहनीय का क्षपक कहलाता है। विघ्नरूप सर्वघाति मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय का तो सर्वघात किया और सम्यक्त्वमोहनीय का अन्तर्मुहूर्त में घात करेगा। इसलिए वह निश्चयनय के मत से दर्शन-मोहक्षपक कहलाता है तथा—

अंतमुहुत्तियखंडं तत्तो उक्किरइ उदयसमयाओ।
निक्खिवइ असंखगुणं जा गुणसेढी परिहीणं ॥४४॥

शब्दार्थ—**अंतमुहुत्तियखंडं**—अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड, **तत्तो**—उसके बाद, **उक्किरइ**—उत्कीर्ण करता है, **उदयसमयाओ**—उदयसमय से, **निक्खिवइ**—स्थापित करता है, **असंखगुणं**—असंख्यात गुणाकार, **जा**—पर्यन्त, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि, **परिहीण**—हीन-हीन।

गाथार्थ—(सम्यक्त्वमोहनीय की सत्ता आठ वर्ष रहने के बाद) उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड करता है और उसके दलिकों को उत्कीर्ण करके उदयसमय से लेकर असंख्यात गुणाकार रूप से गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त स्थापित करता है और उसके बाद हीन-हीन स्थापित करता है।

विशेषार्थ—जब से सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थिति सत्ता हुई, तब से उसके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिखंड करके उसका घात करता है और उसके दलिकों को उदयसमय से लेकर इस प्रकार स्थापित करता है कि उदयसमय में अल्प, द्वितीय समय में असंख्यात-गुण उसके बाद के समय में असंख्यातगुण। इस प्रकार पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान असंख्यात-असंख्यात गुण गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त—गुणश्रेणि जितने स्थितिस्थानों में होती है उसके अन्तिम समय पर्यन्त—

स्थापित करता है। उसके बाद के समयों में—स्थितिस्थानों में हीन-हीन यावत् चरम स्थिति पर्यन्त स्थापित करता है मात्र जिसका स्थितिघात होता है, वहां स्थापित नहीं करता है।

इसका आशय यह है कि दर्शनमोहनीय के क्षय के अधिकार में अकेली गुणश्रेणि जब होती है, तब दलिकों की रचना गुणश्रेणि शीर्ष तक ही होती है तथा उद्वलना और गुणश्रेणि दोनों जहां जुड़ी हुई होती हैं वहां गुणश्रेणि के शीर्ष तक पूर्व-पूर्व स्थान से उत्तर-उत्तर स्थान में असंख्यात-असंख्यात गुण दलिक स्थापित करता है और उसके बाद के स्थानों में जिनका स्थितिघात होता है, उनको छोड़कर शेष में हीन-हीन स्थापित करता है और जिनका स्थितिघात होता है, वहां बिल्कुल स्थापित नहीं करता है। तथा—

उक्किरइ असंखगुणं जाव दुचरिमंति अन्तिमे खंडे।
संखेज्जंसो खंडइ गुणसेढीए तहा देइ ॥४५॥

शब्दार्थ—उक्किरइ—उत्कीर्ण करता है, **असंखगुणं**—असंख्यात गुण, **जाव**—यावत्, **दुचरिमंति**—द्विचरम खंड पर्यंत, **अन्तिमे खंडे**—अन्तिम खंड में, **संखेज्जंसो**—संख्यातवें भाग, **खंडइ**—खंड करता है, **गुणसेढीए**—गुणश्रेणि से, **तहा**—उसी प्रकार, **देइ**—देता है।

गाथार्थ—प्रथम स्थितिखंड से उत्तरोत्तर स्थितिखंड असंख्यात-असंख्यात गुण बड़े-बड़े लेता हुआ यावत् द्विचरम स्थिति खंडपर्यन्त उत्कीर्ण करता है। चरम खंड संख्यात गुण बड़ा है, अंतिम स्थितिखंड खंडित करते गुणश्रेणि के संख्यातवें भाग को खंडित करता है और गुणश्रेणि में देता है।

विशेषार्थ—सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष की सत्ता जब से रहती है, तब से स्थितिघात अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। मात्र उत्तरोत्तर अन्तर्मुहूर्त असंख्यात गुण-असंख्यात गुण होते हैं। उनके दलिकों को पूर्वोक्त क्रम से उदयसमय से लेकर स्थापित करता है इस प्रकार पूर्व-पूर्व खंड की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यात गुण बड़े-बड़े स्थिति खंड पर्यन्त उत्कीर्ण करता है।

द्विचरम स्थितिखंड से अन्तिम स्थितिखंड—स्थितिघात संख्यात गुण बड़ा है। अन्तिम स्थितिखंड को खंडित करते हुए उसके साथ गुणश्रेणि के संख्यातवें भाग को भी खंडित करता है और खंडित होते हुए उस गुणश्रेणि के संख्यातवें भाग के ऊपर की स्थिति उसकी अपेक्षा संख्यात गुणी बड़ी है। उसी चरमस्थितिखण्ड की स्थिति को उत्कीर्ण करता है। यानि अन्तर्मुहूर्त प्रमाण चरम खण्ड के साथ गुणश्रेणि का जितना भाग उत्कीर्ण किया जाता है, उस भाग से उसके बाद उत्कीर्ण किया जाता चरमस्थितिखण्ड संख्यात गुण बड़ा है। तात्पर्य यह कि गुणश्रेणि के संख्यातवें भाग के साथ सम्पूर्ण चरम खण्ड को उत्कीर्ण करता है और वह चरम खण्ड गुणश्रेणि के संख्यातवें भाग से संख्यात गुण बड़ा है।

उसके दलिकों को उदयसमय से लेकर स्थापित करता है। उदय-समय में स्तोक, उसके बाद के उत्तरोत्तर स्थान में गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त असंख्यात-असंख्यातगुण स्थापित करता है। चरमखण्ड को उद्वलित करते गुणश्रेणिशीर्ष से ऊपर स्थानों में दलिक बिल्कुल स्थापित नहीं करता है। क्योंकि वही दलिक उत्कीर्यमाण हैं। इस प्रकार अन्तिम खण्ड का दलिक समाप्त हो तब वह क्षपक कृतकरण कहलाता है। कृतकरण अर्थात् जिसने करण पूर्ण किये हैं। क्योंकि यहाँ तीसरा अनिवृत्तिकरण पूर्ण होता है। तथा—

कयकरणो तक्काले कालंपि करेइ चउसु वि गइसु।
वेइयसेसो सेढी अण्णयरं वा समारुहइ ॥४६॥

शब्दार्थ—**कयकरणो**—कृतकरण, **तक्काले**—उसी समय, **कालंपि**—काल-मरण भी, **करेइ**—करता है, **चउसु**—चारों, **वि**—ही, **गइसु**—गतियों में, **वेइयसेसो**—शेष भाग को अनुभव करने वाला, **सेढी**—श्रेणी, **अण्णयरं**—अन्यतरं किसी एक, **वा**—अथवा, **समारुहइ**—प्राप्त करता है, आरोहण करता है।

गाथार्थ— कृतकरण—अनिवृत्तिकरण को पूर्ण कर लिया है, ऐसा कोई जीव काल भी करता है तो काल करके चारों गति में जाता है और यदि काल न करे तो सम्यक्त्वमोहनीय के शेष भाग को अनुभव करने वाला अन्यतर किसी एक श्रेणि पर आरोहण करता है।

विशेषार्थ— कृतकरण होता हुआ यानि कि अनिवृत्तिकरण पूर्ण करके कोई जीव काल भी करता है और यदि वह काल करे तो चारों में से किसी भी गति उत्पन्न हो सकता है[1] और सम्यक्त्वमोहनीय के शेष भाग को भोग कर क्षायिक सम्यक्त्व उपार्जित करता है। इसीलिये कहा है कि क्षायिक सम्यक्त्व का स्थापक —आरम्भक— प्रारंभ करने की शुरुआत करने वाला मनुष्य ही है और निष्ठापक— पूर्ण करने वाले चारों गति के जीव हैं।[2] क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय का अन्तिम खण्ड नाश हुआ कि करण पूर्ण हुआ, परन्तु अन्तिम खण्ड का जो दलिक उदयसमय से लेकर गुणश्रेणिशीर्ष तक यथाक्रम से स्थापित किया गया है, वह अभी भोगना शेष रहता है। यहाँ आयु पूर्ण हुई हो तो मरकर परिणामानुसार जिस किसी गति में उत्पन्न होता है और सम्यक्त्वमोहनीय का शेष भाग भोगकर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करता है। इसी कारण कहा है कि निष्ठापक चारों गति के जीव हो सकते हैं।

यदि उस समय काल न करे तो मनुष्य गति में ही सम्यक्त्व-

---

१ क्षायिक सम्यक्त्वी तीन नरक, वैमानिकदेव, असंख्यात वर्ष के आयु वाले तिर्यंच या मनुष्य इस तरह चार में से किसी भी गति में परिणामानुसार उत्पन्न हो सकते हैं और जिसने संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यंच का, भवनपति व्यंतर ज्योतिष देव का या आदि के तीन नरक के सिवाय शेष नरकों की आयु बाँधी हो तो वे क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

२ पट्ठगो उ मणुस्सो निट्ठवगो होइ चउसु वि गईसु।

मोहनीय का शेष भाग अनुभव कर क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करके क्षपक या उपशम श्रेणि में से किसी एक श्रेणि पर आरोहण करता है। यदि परभव की वैमानिक देव की ही आयु बाँधी हो और बाद में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो तो ही उपशम श्रेणि पर चढ़ सकता है।

चार गति में से किसी भी गति का आयु नहीं बाँधने वाला अबद्धायुष्क क्षायिकसम्यग्दृष्टि अन्तर्मुहूर्त में ही क्षपक श्रेणि पर आरोहण करता है— क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर अन्तर्मुहूर्त काल में ही चारित्रमोहनीय की क्षपणा प्रारम्भ करता है और वैमानिक के सिवाय अन्य कोई आयु बांधी हो तो एक भी श्रेणि पर नहीं चढ़ सकता है।

क्षायिक सम्यक्त्वी कितनेवें भव में मोक्ष जाता है? अब इस प्रश्न का उत्तर देते हैं।

क्षायिक सम्यक्त्वी का मुक्तिगमन

तइय चउत्थे तम्मि व भवंमि सिज्झंति दंसणे खीणे।
जं देवनरयऽसंखाउ चरमदेहेसु ते होंति ॥४७॥

शब्दार्थ—**तइय चउत्थे**—तीसरे, चौथे, **तम्मि वा**—अथवा उसी, **भवे**—भव में, **सिज्झंति**—सिद्ध होते हैं, **दंसण खीणे**—दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद, **जं**—क्योंकि, **देवनरयऽसंखाउचरमदेहेसु**—देव, नारक, असंख्यात वर्ष की आयु वालों या चरम देह में, **ते**—वे, **होंति**—होते हैं।

गाथार्थ—दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद तीसरे, चौथे या उसी भव में मोक्ष में जाते हैं। क्योंकि देव, नारक, असंख्यात वर्ष की आयु वालों या चरम देह में वे होते हैं।

विशेषार्थ—दर्शनसप्तक का क्षय करने के बाद तीसरे, चौथे या उसी भव में जीव मोक्ष जाते हैं। क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि देव, नारक या असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंच—मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं अथवा चरम शरीरी होते हैं। इसी कारण तीसरे, चौथे या उसी

भव में मोक्ष जाने का संकेत किया है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

देव या नारक की आयु बाँधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो देव या नारकों में जाकर मनुष्य हो मोक्ष में जाता है। उसने जिस भव में क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया वह मनुष्य का भव, बाद में देव या नारक का भव और उसके बाद का मनुष्य भव इस तरह तीन भव होते हैं।

असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य तिर्यंच की आयु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न किया हो तो युगलिक में जाकर और वहाँ से देव में और फिर वहाँ से मनुष्य में जाकर मोक्ष में जाता है, उसे चार भव होते हैं। वे इस प्रकार—पहला मनुष्य का भव, दूसरा युगलिक भव, तीसरा देव और अन्तिम चौथा मनुष्य भव।

जिसने परभव की आयु बाँधी ही नहीं है और क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न करे तो वह चरम शरीरी कहलाता है। वह तो क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होने के बाद उसी समय चारित्रमोहनीय की क्षपणा प्रारम्भ करता है और उसी भव में मोक्ष जाता है।

इस प्रकार दर्शनमोहनीय की क्षपणा का स्वरूप जानना चाहिए। अब चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वरूप कहते हैं और उसमें भी पहले उसके अधिकारी की योग्यता का निर्देश करते हैं।

चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व

चारित्रमोहनीय की उपशमना का अधिकारी वैमानिक देव सम्बन्धी जिसने आयु बाँधी हो वैसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि अथवा वैमानिक देव सम्बन्धी आयु बांधी हो या न बाँधी हो ऐसा वेदक सम्यग्दृष्टि है। जो वेदक सम्यक्त्व होते उपशम श्रेणि मांडता है—चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिए प्रयत्न करता है वह कितने ही आचार्यों के मतानुसार प्रथम अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना करके चौवीस प्रकृतिक

सत्ता वाला और कितने ही आचार्यों के मत से अनन्तानुबन्धि की उपशमना करके अट्ठाईस प्रकृतिक सत्ता वाला दर्शनमोहत्रिक उपशमित करता है। उसके बाद चारित्रमोहनीय की उपशमना के लिए प्रयत्न करता है। अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना और उपशमना कैसे करता है, इसका पूर्व में संकेत किया जा चुका है।

इस प्रकार से चारित्रमोहनीय की उपशमना के अधिकारी का संकेत करने के अनन्तर अब उसी प्रसंग में दर्शनत्रिक की उपशमना की विधि बतलाते हैं।

दर्शनत्रिक उपशमना विधि

अहवा दंसणमोहं पढमं उवसामइत्तु सामण्णे।
ठिच्चा अणुदइयाणं पढमठिई आवली नियमा ॥४८॥

पढमुवसमंव सेसं अन्तमुहुत्ताउ तस्स विज्झाओ।
संकेसविसोहिओ पमत्तइयरत्तणं बहुसो ॥४९॥

शब्दार्थ—**अहवा**—अथवा, **दंसणमोहं**—दर्शनमोह को, **पढमं**—प्रथम, **उवसामइत्तु**—उपशमित करके, **सामण्णे**—श्रमणपने में, **ठिच्चा**—रहकर, **अणुदइयाणं**—अनुदितों की, **पढमठिई**—प्रथम स्थिति, **आवली**—आवलिका मात्र, **नियमा**—नियम से।

पढमुवसमंव—प्रथमोपशमवत्, **सेसं**—शेष, **अन्तमुहुत्ताउ**—अन्तर्मुहूर्त के बाद, **तस्स**—उसका (दर्शनद्विक का), **विज्झाओ**—विध्यातसंक्रम, **संकेसविसोहिओ**—संक्लेश और विशुद्धि से, **पमत्तइयरत्तणं**—प्रमत्त और इतर (अप्रमत्त) में, **बहुसो**—अनेक बार।

गाथार्थ—अथवा प्रथम श्रमणपने में रहकर दर्शनमोह को उपशमित करके चारित्रमोह की उपशमना करता है। अनुदित (मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय की) प्रथम स्थिति आवलिका मात्र होती है।

शेष कथन प्रथमोपशमवत् जानना चाहिये। अन्तमुहूर्त के बाद दर्शनद्विक का विध्यातसंक्रम प्रवर्तित होता है। संक्लेश और विशुद्धि से अनेक बार प्रमत्त और अप्रमत्त में जाता है।

विशेषार्थ—वैमानिक देव की जिसने आयु बांधी है, ऐसा कोई जीव प्रथम अनन्तानुबन्धि क्षय करने के बाद दर्शनमोह का क्षय करके क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त कर चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। अथवा प्रथम अनन्तानुबन्धि का क्षय या उपशम करने के बाद दर्शनत्रिक को उपशमित करके भी कोई चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। वह दर्शनत्रिक की उपशमना श्रमणपने में ही करता है। दर्शनत्रिक की उपशमना करते हुए यथाप्रवृत्त, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण होते हैं।[1] मात्र अन्तरकरण करते अनुदित मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय की प्रथम स्थिति आवलिकामात्र और उदयप्राप्त सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है। तीनों के अन्तरकरण के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथमस्थिति में डालता है तथा मिथ्यात्व और मिश्रमोहनीय के प्रथमस्थितिगत दलिक स्तिबुकसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय की उदयावलिका में संक्रमित होते हैं। सम्यक्त्वमोहनीय का प्रथमस्थिति विपाकोदय द्वारा अनुभव करते क्षीण होती है तब औपशमिक सम्यग्दृष्टि होता है। तीनों के द्वितीय स्थितिगत दलिकों को अनन्तानुबन्धि की तरह उपशमित करता है और शेष कथन प्रथमोपशम सम्यक्त्व की तरह समझ लेना चाहिए।

जैसे दर्शनत्रिक को उपशमित करते अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में मिथ्यात्व तथा मिश्रमोहनीय के दलिकों का सम्यक्त्वमोहनीय में

---

१ इन तीनों का स्वरूप पूर्व में मिथ्यात्व या अनन्तानुबन्धि की उपशमना के प्रसंग में कहा है, वैसा ही यहाँ समझ लेना चाहिये।

गुणसंक्रम होता था[1], वैसे अन्तरकरण में प्रवेश करने के बाद भी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त गुणसंक्रम होता है। अन्तर्मुहूर्त बीतने के बाद गुणसंक्रम के अन्त में विध्यातसंक्रम होता है। विध्यातसंक्रम द्वारा मिश्र और मिथ्यात्व के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित करता है।

इस प्रकार से दर्शनमोहनीय का उपशम होने के बाद संक्लेश और विशुद्धि से प्रमत्तत्व और अप्रमत्तत्व का अनेक बार अनुभव कर प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त गुणस्थान में जाकर चारित्रमोहनीय की उपशमना करने का प्रयत्न करता है। जिसका क्रम इस प्रकार है—

पुणरवि तिन्नि करणाइं करेइ तइयंमि एत्थ पुण भेओ।
अन्तोकोडाकोडी बंधं संतं च सत्तण्हं ॥५०॥

शब्दार्थ—**पुणरवि**—पुनः भी, **तिन्नि करणाइं**—तीन करण, **करेइ**—करता है, **तइयंमि**—तीसरे में, **एत्थ**—यहाँ, **पुण**—पुनः, **भेओ**—भेद, अन्तर, विशेष, **अन्तोकोडाकोडी**—अन्तःकोडाकोडी, **बंधं**—बन्ध, **संतं**—सत्ता, **च**—और, **सत्तण्हं**—सात कर्मों का।

गाथार्थ—चारित्रमोहनीय की उपशमना करते पुनः भी तीन करण करता है। तीसरे करण में यह विशेष है कि वहाँ सात कर्मों का बन्ध और सत्ता अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण करता है।

विशेषार्थ—चारित्रमोहनीय की उपशमना करता जीव भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है। उनमें से यहाँ चारित्रमोहनीय की

---

१ यहाँ सामान्यतः मिथ्यात्व और मिश्र का सम्यक्त्व में संक्रम होता है ऐसा संकेत किया है लेकिन मिथ्यात्व का मिश्र में भी इसी प्रकार संक्रम होता है यह भी जानना चाहिये।

उपशमना करते सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में यथाप्रवृत्त[1] आठवें में अपूर्वकरण और नौवें गुणस्थान में अनिवृत्तिकरण जानना चाहिए। अपूर्वकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, अबध्यमान समस्त अशुभप्रकृतियों का गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिबन्ध पूर्व की तरह होता है।

अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघात आदि पाँचों पद प्रवृत्त होते हैं। इस करण में दूसरी विशेषता इस प्रकार है—अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय में आयु के सिवाय सात कर्मों का बन्ध और सत्ता अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण करता है। यद्यपि इससे पूर्व हुए अपूर्वकरणादि करणों में भी उतना ही बंध और सत्ता होती है, लेकिन उस बन्ध और सत्ता से नौवें गुणस्थान का बन्ध और सत्ता असंख्यातगुणहीन यानि असंख्यात भाग प्रमाण समझना चाहिए तथा यद्यपि यहाँ बन्ध और सत्ता समान मालूम होती है, किन्तु बन्ध की अपेक्षा सत्ता अधिक समझना चाहिये।[2] तथा—

ठिइखंडं उक्कोसंपि तस्स पल्लस्स संखतमभागं।
ठितिखंडं बहु सहस्से एक्केक्कं जं भणिस्सामो ॥५१॥

शब्दार्थ—**ठिइखंडं**—स्थितिघात, **उक्कोसंपि**—उत्कृष्ट से भी, **तस्स**—उसका, **पल्लस्स**—पल्योपम का, **संखतमभागं**—संख्यातवें भाग, **ठितिखंडं**—स्थितिघात, **बहु सहस्से**—अनेक हजारों, **एक्केक्कं**—एक-एक में, **जं**—जो, **भणिस्सामो**—कहूँगा।

---

१ दर्शनत्रिक की उपशमना करने के बाद और चारित्रमोहनीय की उपशमना करते हजारों बार प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में जाता है, उसके बाद अपूर्वकरण में। इसमें अन्तिम बार जो अप्रमत्तत्व प्राप्त होने के बाद अपूर्वकरण में प्रवेश करता है, उस अप्रमत्तत्व को चारित्रमोहनीय की उपशमना करते यथाप्रवृत्तकरण के रूप में समझना चाहिये।

२ 'कर्मप्रकृति' में सत्ता और बन्ध सामान्य से अन्तःकोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कहा है।

गाथार्थ—इस गुणस्थान में—नौवें गुणस्थान में—स्थितिघात उत्कृष्ट से भी पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण ही होता है। अनेक हजारों स्थितिघात होने के बाद एक-एक कर्म में जो कुछ करता है, उसे आगे कहूंगा।

विशेषार्थ—नौवें गुणस्थान में उत्कृष्ट से भी पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण ही स्थितिघात होता है तथा जो बन्ध होता है, उसमें भी पल्योपम के संख्यातवें भाग कम-कम करके अन्य स्थितिबन्ध करता है तथा यद्यपि सामान्यतः सातों कर्मों का स्थितिघात पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण कहा है, तथापि सत्ता में अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता उनके अल्पस्थिति वाले होने से अल्प है, उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय की अधिक है, परन्तु तुल्यस्थिति वाले होने से स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उनसे मोहनीय कर्म की सत्ता अधिक है। क्योंकि जिसकी स्थिति अधिक है, उसकी सत्ता भी अधिक और जिसकी स्थिति अल्प उसकी सत्ता भी अल्प होती है। यद्यपि सामान्यतः सत्ता अन्तःकोडाकोडी है, लेकिन वह अल्पाधिक होती है, यह उक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है।

अब अनेक हजारों स्थितिघात जाने के बाद एक-एक कर्म के सम्बन्ध में जो कुछ भी करता है, उसको स्पष्ट करते हैं—

करणस्स संखभागे सेसे य असण्णिमाइयाण समो।
बंधो कमेण पल्लं वीसग तीसाण उ दिवड्ढं ॥५२॥

शब्दार्थ—**करणस्स**—अनिवृत्तिकरण का, **संखभागे सेसे**—संख्यातवां भाग शेष रहने पर, **य**—और, **असण्णिमाइयाण**—असंज्ञी आदि के, **समो**—समान, **बन्धो**—बन्ध, **कमेण**—क्रम से, **पल्लं**—पल्योपम, **वीसग**—बीस कोडाकोडी सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति वाले नाम गोत्र का, **तीसाण**—तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्मों का, **दिवड्ढं**—डेढ़।

गाथार्थ—अनिवृत्तिकरण का जब संख्यातवां भाग शेष रहे

तब क्रम से घटते हुए असंज्ञी आदि के समान बंध होता है। उसके बाद बीस कोडाकोडी की उत्कृष्ट स्थिति वाले नाम, गोत्र का एक पल्योपम और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण आदि चार कर्मों का डेढ़ पल्योपम का बंध होता है।

विशेषार्थ—अनिवृत्तिकरण के संख्याता भाग जायें और एक भाग शेष रहे तब असंज्ञी पंचेन्द्रिय के स्थितिबंध के समान स्थितिबंध होता है। उसके बाद और भी बहुत से स्थितिघात हो जाने के बाद चतुरिन्द्रिय के स्थितिबंध के तुल्य स्थितिबंध होता है। इसके बाद बहुत से स्थितिघात होने के बाद त्रीन्द्रिय के स्थितिबंध के तुल्य स्थिति बंध होता है। इसी तरह बहुत से स्थितिघात जाने के बाद द्वीन्द्रिय के स्थितिबंध के बराबर स्थितिबंध होता है। इसके बाद बहुत से स्थितिघात जाने के बाद एकेन्द्रिय के स्थितिबंध के तुल्य स्थितिबंध होता है। उसके बाद हजारों स्थितिबंध होने के अनन्तर बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म का पल्योपमप्रमाण और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय तथा अन्तराय कर्म का डेढ़ पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध होता है।

ऊपर जो प्रत्येक स्थान पर हजारों स्थितिघात जाने के बाद और अंतिम स्थितिबंध होने के बाद यह कहा है तो उससे ऐसा समझना चाहिये कि जितने-जितने स्थितिघात होते हैं, उतने अपूर्व-अपूर्व स्थितिबंध होते हैं। क्योंकि स्थितिघात और स्थितिबंध साथ ही प्रारम्भ करता है और साथ ही पूर्ण कर नया आरम्भ करता है। जैसे सत्ता में से स्थिति कम होती है, वैसे ही बंध में से भी कम होती है। सत्ता में से स्थितिघात द्वारा और बंध में से अपूर्व स्थितिबंध करते-करते कम होती है। तथा—

मोहस्स दोण्णि पल्ला संतेवि हु एवमेव अप्पनहू।
पलियमित्तंमि बंधे अण्णो संखेज्जगुणहीणो ॥५३॥

शब्दार्थ—**मोहस्स**—मोहनीय का, **दोण्णि पल्ला**—दो पल्योपम, **संतेवि**—सत्ता में भी, **हु**—ही, **एवमेव**—इसी प्रकार, **अप्पबहू**—अल्पबहुत्व, **पलिय-मित्तंमि**—पल्योपममात्र, **बंधे**—बंध में, **अण्णो**—अन्य, **संखेज्जगुणहीणो**—संख्यातगुणहीन।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म का दो पल्योपम स्थितिबंध होता है। सत्ता में भी इसी प्रकार से अल्पबहुत्व जानना चाहिये। पल्योपम मात्र स्थितिबंध होने के बाद अन्य स्थितिबंध संख्यात-गुणहीन होता है।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म का दो पल्योपम का स्थितिबंध होता है। सत्ता में स्थिति का अल्पबहुत्व बंध के क्रमानुसार ही कहना चाहिये। यानि जिसका स्थितिबन्ध अधिक उसकी सत्ता अधिक और जिसका स्थितिबन्ध कम उसकी सत्ता कम जानना चाहिये। वह इस प्रकार—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय की विशेषाधिक, उससे मोहनीय की अधिक है तथा जिस-जिस कर्म का जब-जब पल्योपम प्रमाण स्थितिबन्ध हो, उस-उस कर्म का उस समय से लेकर अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणहीन संख्यातवें भाग प्रमाण होता है। इसीलिये नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबंध पल्योपम प्रमाण जब हुआ, उसके बाद का अन्य स्थितिबन्ध संख्यातगुणहीन होता है। शेष कर्मों का तो अन्य-अन्य स्थितिबन्ध पल्यो-पम के संख्यातवें भागहीन होता है। इसके बाद जो होता है, वह इस प्रकार है—

एवं तीसाण पुणो पल्लं मोहस्स होइ उ दिवड्ढं।
एवं मोहे पल्लं सेसाणं पलससंखंसो ॥५४॥

शब्दार्थ—**एवं**—इसी प्रकार, **तीसाण**—तीस कोडाकोडी सागरोपम स्थिति वालों का, **पुणो**—पुनः, **पल्लं**—पल्योपम, **मोहस्स**—मोहनीय का, **होइ**—होता है, **उ**—और, **दिवड्ढं**—डेढ़, **एवं**—इसी प्रकार, **मोहे**—मोहनीय

का, **पल्लं**—पल्योपम, **सेसाणं**—शेष का, **पल्लसंखंसो**—पल्योपम का संख्यातवां भाग।

गाथार्थ—इसी प्रकार तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरणादि का पल्योपम स्थितिबन्ध होता है और मोहनीय का डेढ़ पल्य। उसके बाद इसी प्रकार मोहनीय का पल्योपम स्थितिबन्ध होता है और शेष कर्मों का पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबन्ध होता है।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म का दो पल्योपम स्थितिबन्ध होने के बाद हजारों अपूर्व स्थितिबंध होने के अनन्तर तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय कर्म का एक पल्योपम और मोहनीय का डेढ़ पल्योपम स्थितिबंध करता है। ज्ञानावरणादि का पल्योपम का स्थितिबंध होने के बाद का अन्य स्थितिबंध संख्यात गुणहीन होता है। मोहनीय का तो पल्योपम के संख्यातवें भाग हीन होता है। मोहनीय का डेढ़ पल्योपम स्थितिबंध होने के बाद हजारों अन्य स्थितिबंध होने के अनन्तर मोहनीय का स्थितिबंध भी पल्योपम प्रमाण होता है और उसके बाद का मोहनीय का भी अन्य स्थितिबंध संख्यातगुणहीन यानि पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण मात्र होता है। जिस समय मोहनीय का पल्योपम प्रमाण स्थितिबंध होता है, उस समय शेष कर्मों का अन्य स्थितिबंध पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण होता है। तथा—

वीसगतीसगमोहाण संतयं जहकमेण संखगुणं।
पल्ल असंखेज्जंसो नामगोयाण तो बंधो ॥५५॥

शब्दार्थ—**वीसगतीसगमोहाण**—बीस और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालों और मोहनीय की, **संतयं**—सत्ता, **जहकमेण**—अनुक्रम से, **संखगुणं**—संख्यात गुणी, **पल्ल असंखेज्जंसो**—पल्योपम के असंख्यातवें भाग, **नामगोयाण**—नाम और गोत्र का, **तो**—तो, **बंधो**—बन्ध।

गाथार्थ—बीस और तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालों और मोहनीय की सत्ता अनुक्रम से संख्यातगुणी होती है और उसके बाद नाम और गोत्र कर्म का स्थितिबंध पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है।

विशेषार्थ—जब मोहनीयकर्म का स्थितिबंध पल्योपम प्रमाण होता है तब बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले, तीस कोडा-कोडी सागरोपम की स्थिति वाले और मोहनीय, इन सब कर्मों की स्थितिसत्ता अनुक्रम से संख्यातगुण होती है। वह इस प्रकार—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उनसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की संख्यात गुणी, किन्तु स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उनसे मोहनीय की संख्यातगुणी है।

मोहनीयकर्म का पल्योपम प्रमाण स्थितिबन्ध जब हुआ, उसके बाद का नाम गोत्र कर्म का अन्य स्थितिबन्ध अपने पहले के बन्ध से असंख्यात गुणहीन होता है। अर्थात् मात्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण बन्ध होता है।

यहाँ सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प और परस्पर तुल्य, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे मोहनीय की सत्ता संख्यातगुणी है। तथा—

एवं तीसाणंपि हु एक्कपहारेण मोहणीयस्स।
तीसगअसंखभागो ठितिबंधो संतयं च भवे ॥५६॥

शब्दार्थ—**एवं**—इसी प्रकार, **तीसाणं**—तीस कोडाकोडी की स्थिति वाले कर्मों का भी, **एक्कपहारेण**—एक प्रहार से, **मोहणीयस्स**—मोहनीय का, **तीसगअसंखभागो**—तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों का असंख्यातवां भाग, **ठितिबन्धो**—स्थितिबंध, **संतयं**—सत्ता, **च**—और, **भवे**—होती है।

गाथार्थ—इसी प्रकार नाम और गोत्र के क्रम से तीस कोडा-कोडी सागरोपम की स्थिति वाले कर्मों का भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिबंध होता है। उसके बाद एक ही प्रहार से मोहनीय का पल्योपम का असंख्यातवां भाग स्थिति-

बंध होता है। वह स्थितिबंध तीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वालों का असंख्यातवें भाग होता है। जैसा बंध वैसी सत्ता भी होती है।

विशेषार्थ—इसी प्रकार नाम और गोत्र कर्म के क्रम से—नाम और गोत्र कर्म का असंख्यातगुणहीन बंध होने के अनन्तर हजारों स्थिति-बंध हो जाने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय का स्थितिबंध अपने पूर्व स्थितिबंध से असंख्यातगुणहीन होता है, यानि उसके असंख्यातवें भागप्रमाण होता है। इस समय सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार होता है—नाम और गोत्र कर्म की सत्ता अल्प, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की असंख्यात गुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य उससे मोहनीय की सत्ता असंख्यात गुणी होती है।

तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंध हो जाने के अनन्तर एक ही प्रहार से अर्थात् एकदम मोहनीयकर्म का पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण बंध होता है और वह भी ज्ञानावरणादि से असंख्यात गुणहीन होता है। अभी तक जो ज्ञानावरणादि की अपेक्षा मोहनीय का असंख्यातगुणा बंध होता था अब मोहनीय से ज्ञानावरणादि का असंख्यातगुणा बंध होने लगता है।[1] सत्ता में भी इसी प्रकार से परिवर्तन होता है। तब सत्ता की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—नाम और गोत्र की सत्ता अल्प, उससे मोहनीय की सत्ता असंख्यात गुणी, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों की सत्ता असंख्यात गुणी होती है और स्वस्थान में परस्पर तुल्य है। तथा—

---

१ पहले ज्ञानावरणादि से मोहनीय की सत्ता और बंध असंख्यात गुणा होता था, किन्तु अब प्रबल शुद्ध अध्यवसायों के कारण एकदम सत्ता में से बड़ा स्थितिघात करके सत्ता कम कर देता है। इसी प्रकार बन्ध में से स्थिति घटाकर बंध भी कम करता है। जिससे मोहनीय के बन्ध और सत्ता से ज्ञानावरणादि का बन्ध और सत्ता असंख्यातगुण होती है।

वीसग असंखभागे मोहं पच्छा उ घाइ तइयस्स।
वीसग तओ घाई असंखभागम्मि बज्झंति ॥५७॥

शब्दार्थ—वीसग—बीस कोडाकोडी सागरोपम के बंध वालों, **असंखभागे**—असंख्यातवें भाग, **मोहं**—मोहनीय का, **पच्छा**—बाद में, **उ**—और, **घाइ**—घाति कर्म, **तइयस्स**—तीसरे कर्म के, **वीसग**—बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों से, **तओ**—फिर, **घाई**—घाति कर्म, **असंखभागम्मि**—असंख्यातवें भाग, **बज्झंति**—बंधते हैं।

गाथार्थ—बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों (नाम और गोत्र) के बन्ध के असंख्यातवें भाग मोहनीय का बन्ध होता है। बाद में तीसरे कर्म से नीचे घाति कर्म जाते हैं। उसके बाद बीस कोडाकोडी सागरोपम वालों (नाम और गोत्रकर्म) के असंख्यातवें भाग घातिकर्म बँधते हैं।

विशेषार्थ—बंध और सत्ता में से बहुत सी स्थिति कम होकर मोहनीयकर्म का ज्ञानावरणादि से असंख्यातगुणहीन स्थितिबन्ध और सत्ता होने के अनन्तर हजारों स्थितिबन्ध होने के बाद तथा एक साथ बन्ध में से स्थिति कम होकर उसका नाम गोत्र के नीचे असंख्यातगुणहीन बन्ध होता है। यानि नाम और गोत्र के बन्ध से असंख्यात गुणहीन मोहनीय का बन्ध होता है। तब—

स्थितिबन्ध की अपेक्षा अल्पबहुत्व इस प्रकार है—मोहनीय का स्थितिबन्ध अल्प, उससे नाम और गोत्र कर्म का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे ज्ञानावरणादि चार कर्मों का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य बन्ध होता है।

इसके बाद पुनः हजारों स्थितिबन्ध होने के अनन्तर वेदनीय के नीचे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का बन्ध होता है। अर्थात् वेदनीय से उनका बन्ध असंख्यातगुणहीन होता है। अभी तक उन चारों का बन्ध तुल्य होता था। तब—

स्थितिबन्ध सम्बन्धी अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

मोहनीय का स्थितिबन्ध अल्प, उससे नाम गोत्र कर्म का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य तथा उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का असंख्यातगुण, स्वस्थान में परस्पर तुल्य और उससे वेदनीय का असंख्यातगुण बन्ध होता है।

इसके बाद हजारों स्थितिबन्ध हो जाने के अनन्तर बीस कोडाकोडी सागरोपम की स्थिति वाले नाम और गोत्र कर्म के असंख्यातवें भाग ज्ञानावरण आदि तीन कर्मों का स्थितिबंध होता है। अभी तक नाम और गोत्र के बंध से असंख्यातगुण ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का बन्ध होता था, किन्तु अब ज्ञानावरणादि तीन कर्मों से नाम और गोत्र कर्म का असंख्यातगुण बन्ध होता है। यहाँ अल्पबहुत्व इस प्रकार है—मोहनीय कर्म का स्थितिबन्ध अल्प, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य, उससे भी नाम और गोत्र कर्म का असंख्यात गुण और स्वस्थान में तुल्य, उससे वेदनीय कर्म का असंख्यातगुण[1] स्थितिबन्ध होता है। इस प्रकार से बन्ध के अनुरूप सत्ता सम्बन्धी अल्पबहुत्व भी समझ लेना चाहिये। क्योंकि बन्ध में से स्थिति कम होने के समान ही सत्ता में से भी कम होती है। तथा—

असंखसमयबद्धाणुदीरणा होइ तंमि कालम्मि।
देसघाइरसं तो मणपज्जव अन्तरायाणं ॥५८॥

शब्दार्थ—**असंखसमयबद्धाणुदीरणा**—असंख्यात समय तक के बंधे हुए कर्म की उदीरणा, **होइ**—होती है, **तंमि**—उस, **कालम्मि**—काल में, **देसघाइरसं**—देशघाति रस, **तो**—इसके बाद, **मणपज्जवअंतरायाणं**—मनपर्याय ज्ञानावरण और अंतरायकर्म का।

गाथार्थ—उस समय असंख्यात समय तक के बंधे हुए कर्म की ही उदीरणा होती है। उसके बाद हजारों स्थितिघात

---

१ 'कर्म प्रकृति' में वेदनीय का विशेषाधिक स्थितिबंध बताया है।

होने के अनन्तर मनपर्यायज्ञानावरण और (दान) अन्तराय का देशघाति रस बंध होता है।

विशेषार्थ—जिस समय सभी कर्मों का पल्योपम का असंख्यातवां भाग प्रमाण स्थितिबंध होता है, उस समय असंख्यात समय के बंधे हुए कर्मों की ही उदीरणा होती है। इसका कारण यह है कि जो प्रकृति बंधती है, उसकी स्थिति की अपेक्षा जो समयादि न्यून सत्तागत स्थितियां हैं, वे ही उदीरणा को प्राप्त होती है, दूसरी नहीं। क्योंकि दीर्घ काल की बंधी हुई स्थितियां लगभग क्षय हो गई होती हैं, इसीलिए असंख्य समय के बंधे हुए कर्मों की ही उस समय उदीरण होती है। उसके बाद हजारों स्थितिबंध होने के अनन्तर मनपर्यायज्ञानावरण और दानान्तराय का देशघाति रस बंधता है। तथा—

लाहोहीणं पच्छा भोगअचक्खुसुयाण तो चक्खु।
परिभोगमइणं तो विरियस्स असेढिगा घाई ॥५६॥

शब्दार्थ—लाहोहीणं—लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण, **पच्छा**—पश्चात्, **भोगअचक्खुसुयाण**—भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण, श्रुत ज्ञानावरण, **तो**—उसके बाद, **चक्खु**—चक्षुदर्शनावरण, **परिभोगमइणं**—उपभोगान्तराय, मतिज्ञानावरण, **तो**—पश्चात्, **विरियस्स**—वीर्यान्तराय कर्म का, **असेढिगा**—श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुए, **घाई**—सर्वघाति।

गाथार्थ—पश्चात् लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का, उसके बाद भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण और श्रुतज्ञानावरण का, उसके बाद चक्षुदर्शनावरण का देशघाति रस बंध करता है, उसके बाद उपभोगान्तराय और मतिज्ञानावरण का और उसके बाद वीर्यान्तराय का देशघाति रसबन्ध करता है। किन्तु श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुए सर्वघाति रस ही बांधते हैं।

विशेषार्थ—मनपर्यायज्ञानावरण और दानान्तराय का देशघाति

रस होने के बाद हजारों स्थितिबन्ध व्यतीत होने के अनन्तर लाभान्तराय, अवधिज्ञानावरण, अवधिदर्शनावरण का देशघाति रस बांधता है तत्पश्चात् संख्याता हजार स्थितिबन्ध व्यतीत होने के बाद भोगान्तराय, अचक्षुदर्शनावरण और श्रुतज्ञानावरण का देशघाति रसबन्ध करता है। उसके बाद संख्याता हजार स्थितिबन्ध होने के अनन्तर चक्षुदर्शनावरण का देशघाति रसबन्ध करता है। उसके बाद हजारों बन्ध होने के अनन्तर उपभोगान्तराय और मतिज्ञानावरण का देशघाति रसबन्ध करता है, तत्पश्चात् हजारों स्थितिबन्ध व्यतीत हो जाने के अनन्तर वीर्यान्तराय का देशघाति रसबन्ध करता है। किन्तु क्षपकश्रेणि या उपशमश्रेणि में से किसी भी श्रेणि पर आरूढ़ नहीं हुए जीव उपर्युक्त सभी प्रकृतियों का रस सर्वघाति ही बांधते हैं। तथा—

संजमघाईण तओ अंतरमुदओ उ जाण दोण्हं तु।
वेयकसायण्णयरे सोदयतुल्ला उ पढमट्ठिई ॥६०॥

शब्दार्थ—**संजमघाईण**—संयम घाति प्रकृतियों का, **तओ**—तत्पश्चात्, **अंतरं**—अन्तरकरण, **उदओ**—उदय, **उ**—और, **जाण**—जिसका, **दोण्हं तु**—और दोनों, **वेयकसायण्णयरे**—वेद और कषाय में से अन्यतर का, **सोदयतुल्ला**—स्वोदय तुल्य, **उ**—और, **पढमट्ठिई**—प्रथम स्थिति।

गाथार्थ—तत्पश्चात् संयमघाति प्रकृतियों का अन्तरकरण होता है। वेद और कषाय इन दोनों में से जिसका उदय हो उनकी प्रथम स्थिति स्वोदय तुल्य है।

विशेषार्थ—वीर्यान्तराय कर्म का देशघाति रस होने के बाद संख्यात हजारों स्थितिबन्ध होने के अनन्तर चारित्र का घात करने वाली अनन्तानुबन्धि कषायों को छोड़कर शेष बारह कषाय और नवनोकषाय इन इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। उसमें संज्वलन की चार कषायों में से किसी एक का और तीन वेद में से किसी एक का इस तरह दो प्रकृतियों का उदय होता है, जिससे उन दो प्रकृतियों की प्रथम स्थिति अपने उदय काल जितनी करता है। यानि

उन प्रकृतियों का नौवें गुणस्थान के जिस समय तक उदय होता है, उतनी प्रथम स्थिति करता है। दूसरी शेष रही ग्यारह कषाय और आठ नोकषाय कुल उन्नीस प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका जितनी करता है।

यहाँ जो बारह कषाय और नवनोकषाय इन इक्कीस प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है, कहा है उसका आशय यह है कि अन्तरकरण यानि उपशम भाव का सम्यक्त्व या चारित्र जितने काल रहता हो, लगभग उतने काल में भोगे जायें उतने दलिकों को वहाँ से बिल्कुल दूर कर उतनी (अन्तर्मुहूर्त प्रमाण) भूमि साफ करना।

यहाँ प्रश्न होता है कि यह अन्तरकरण क्रिया इक्कीस प्रकृतियों की साथ ही होती है या क्रमपूर्वक ? यदि साथ ही होती है यानि उन्नीस अनुदयवती प्रकृतियों की एक आवलिका प्रमाण स्थिति छोड़कर और उदयवती प्रकृतियों में उदयसमय से लेकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति छोड़कर उसके बाद के अन्तर्मुहूर्त में भोगे जायें उतने दलिक एक स्थितिघात जितने काल में एक साथ ही दूर होते हैं तो यह अर्थ हुआ कि उन्नीस प्रकृतियों के आवलिका से ऊपर के और उदयवती प्रकृतियों के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति से ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में भोगे जायें उतने दलिक दूर करता है। जिससे उतनी भूमिका इक्कीस प्रकृतियों की एक साथ साफ हो गई। यदि ऐसा हो तो जिन-जिन प्रकृतियों की गुणश्रेणियां चालू हैं, उन-उनकी गुणश्रेणि—दल रचना कैसे हो ?

इसका उत्तर यह है कि उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जैसे मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका शेष रहती है तब गुणश्रेणि बंद हो जाती है, यह कहा है; उसी प्रकार यहाँ भी अन्तरकरण क्रिया करके जिन प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण रखता है, उनकी उसी समय और जिन उदयवती प्रकृतियों की प्रथम स्थिति उदयकाल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त रखता है, उनकी प्रथम

स्थिति दो आवलिका प्रमाण बाकी रहे तब गुणश्रेणि बंद हो जाती है और प्रथम गुणश्रेणि द्वारा अन्तरकरण के अमुक भाग में जो दलिक रचना हुई थी वह भी अन्तरकरण के साथ ही दूर हो जाती है। इस तरह इक्कीस प्रकृतियों की अन्तरकरण करने की क्रिया एक ही साथ प्रारम्भ होती है और समाप्त भी साथ ही होती है।

कदाचित् यहाँ यह प्रश्न हो कि इक्कीस प्रकृतियों में से उन्नीस प्रकृतियों की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण होती है, जिससे उसके बाद के अन्तरकरण किये गये अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान में दलिक नहीं होते हैं तो फिर क्रोधोदय में श्रेणि मांड़नेवाले को मान, माया लोभ आदि का बाद में क्रमशः उदय कहां से हो ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे क्षपक श्रेणि में क्रोधोदय में श्रेणि मांड़ने वाले के क्रोध को प्रथम स्थिति एक आवलिका शेष रहे तब मान आदि तीन का अन्तरकरण हुआ होने से वहाँ दलिक हैं ही नहीं किन्तु दूसरी स्थिति में वर्तमान मान के दलिकों को आकर्षित कर नीचे लाकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में भोगे जायें, उतनी प्रथम स्थिति बनाकर वेदन करता है और मान की प्रथम स्थिति एक आवलिका रहे तब माया की और माया की प्रथम स्थिति एक आवलिका रहे तब लोभ की द्वितीय स्थिति में से दलिकों को खींचकर अन्तर्मुहूर्त काल प्रमाण अनुक्रम से माया और लोभ की प्रथम स्थिति बनाता है और वेदन करता है। उसी प्रकार उपशम श्रेणि में भी क्रोधोदय से श्रेणि मांड़ने वाले के क्रोध की प्रथम स्थिति एक आवलिका बाकी रहे तब मान का अन्तरकरण क्रिया होने से वहाँ दलिक नहीं हैं, परन्तु मान की ऊपर की स्थिति में से दलिकों को नीचे लाकर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति बनाकर वेदन करता है। इसी प्रकार माया और लोभ के लिये भी समझना चाहिये और क्षपक श्रेणि की तरह उपशम श्रेणि में भी ऐसा ही करने का कारण जीव स्वभाव है।

अब संज्वलन कषायचतुष्क और वेदत्रिक का स्वोदय काल बतलाते हैं—

थीअपुमोदयकाला संखेज्जगुणा उ पुरिसवेयस्स ।
तस्सवि विसेसअहिओ कोहे तत्तोवि जहकमसो ॥६१॥

शब्दार्थ—**थीअपुमोदयकाला**—स्त्रीवेद, नपुंसक वेद के काल से, **संखेज्जगुणा**—संख्यातगुणा, **उ**—और, **पुरिसवेयस्स**—पुरुषवेद का, **तस्सवि**—उससे भी, **विसेसअहिओ**—विशेषाधिक, **कोहे**—क्रोध का, **तत्तोवि**—उससे भी, **जहकमसो**—अनुक्रम से मान आदि का।

गाथार्थ—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदयकाल से पुरुषवेद का उदय काल संख्यातगुणा है, उससे क्रोध का और उससे भी मान आदि तीन का अनुक्रम से विशेषाधिक-विशेषाधिक है।

विशेषार्थ—स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उदयकाल पुरुषवेद के उदयकाल की अपेक्षा अल्प है, किन्तु स्वस्थान में परस्पर तुल्य है, उससे पुरुषवेद का उदयकाल संख्यातगुणा है। उस पुरुषवेद के उदयकाल से संज्वलन क्रोध का उदय काल विशेषाधिक है, उससे अनुक्रम से मान, माया और लोभ का उदयकाल विशेषाधिक-विशेषाधिक है।

प्रश्न—संज्वलन क्रोधादि का उदय कहाँ तक होता है ?

उत्तर—संज्वलनक्रोध के उदय में उपशमश्रेणि स्वीकार करने वाले को जब तक जहाँ तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम नहीं होता है, तब तक संज्वलनक्रोध का उदय होता है। संज्वलनमान के उदय में श्रेणिआरम्भ करने वाले के जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम नहीं हुआ होता है, तब तक संज्वलनमान का उदय होता है। संज्वलन-माया के उदय से श्रेणि आरंभक के, जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया शांत न हो गई हो, तब तक संज्वलन माया का उदय होता है और संज्वलन लोभ के उदय में श्रेणि-आरंभक के जब तक अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम न हो तब तक बादर संज्वलन लोभ का उदय होता है। बादर लोभ को

शांत करके सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में जाता है। इस प्रकार अन्तरकरण ऊपर की अपेक्षा समान स्थिति वाला है और अधोभाग की अपेक्षा उक्त न्याय से विषम स्थिति वाला है। तथा—

अंतरकरणेण समं ठितिखंडगबंधगद्धनिप्फत्ति।
अंतरकरणाणंतरसमए जायंति सत्त इमे ॥६२॥

एगट्ठाणाणुभागो बंधो उदीरणा य संखसमा।
अणुपुव्वी संकमणं लोहस्स असंकमो मोहे ॥६३॥

बद्धं बद्धं छसु आवलीसु उवरेणुदीरणं एइ।
पंडगवेउवसमणा असंखगुणणाइ जावंतं ॥६४॥

शब्दार्थ—**अंतरकरणेणसमं**—अंतरकरण के साथ, **ठितिखंडगबंधगद्धनिप्फत्ति**—स्थितिघात, अपूर्व स्थितिबंध की निष्पत्ति, **अंतरकरणाणंतरसमए**—अंतरकरण के अनन्तर समय में, **जायंति**—होते हैं, **सत्त**—सात, **इमे**—यह।

एगट्ठाणाणुभागो—एकस्थानक रसबंध, **बंधो**—स्थितिबंध, **उदीरणा**—उदीरणा, **य**—और, **संखसमा**—संख्यात वर्ष के बराबर, **अणुपुव्वीसंकमणं**—आनुपूर्वी-संक्रमण, **लोहस्स**—लोभ का, **असंकमो**—संक्रमण का अभाव, **मोहे**—मोहनीय कर्म में।

बद्धं बद्धं छसु आवलीसु—बंधे हुए दलिक की छह आवलिका, **उवरेणुदीरणं**—जाने के बाद उदीरणा, **एइ**—होती है, **पंडगवेउवसमणा**—नपुंसकवेद की उपशमना, **असंखगुणणाइ**—असंख्यात गुणाकार रूप से, **जावंतं**—अन्तपर्यन्त।

गाथार्थ—अन्तरकरण के साथ ही स्थितिघात और अपूर्व स्थितिबंध की निष्पत्ति होती है। अन्तरकरण के अनन्तर समय में निम्नलिखित सात पदार्थ होते हैं—

१. मोहनीय का एक स्थानक रसबंध, २. मोहनीय का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध, ३. मोहनीय की संख्यात वर्ष की

उदीरणा, ४. आनुपूर्वी संक्रमण, ५. लोभ के संक्रमण का अभाव, ६. बंधे हुए दलिक की छह आवलिका जाने के बाद उदीरणा और, ७. नपुंसक वेद की पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर समय में अन्तपर्यन्त असंख्यातगुणाकार रूप से उपशमना।

विशेषार्थ—अन्तरकरण के साथ ही स्थितिघात और अपूर्वस्थितिबंध की निष्पत्ति—पूर्णता होती है। यानि जितने काल में एक स्थितिखंड का घात करता है अथवा अपूर्व स्थितिबंध करता है, उतने ही काल में अन्तरकरण क्रिया पूर्ण करता है। इन तीनों को एक साथ प्रारंभ करता है और एक साथ ही पूर्ण करता है। स्थितिघात जितना ही काल होने से अन्तरकरण क्रिया काल में हजारों बार रसघात होता है।

अन्तरकरण में दलिकनिक्षेप का क्रम इस प्रकार है —

जिस कर्म का उस समय बंध और उदय दोनों हों उसके अन्तरकरण के दलिक प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थिति दोनों में निक्षिप्त करता है। अर्थात् कितने ही दलिकों को प्रथमस्थिति के साथ भोगा जा सके, वैसे करता है और कितनेक को द्वितीयस्थिति के साथ भोगा जा सके, वैसे करता है। जैसे पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला पुरुषवेद के दलिकों को दोनों स्थितियों में निक्षिप्त करता है। जिस कर्म का केवल उदय हो किन्तु बंध नहीं होता, उसके अन्तरकरण के दलिकों को प्रथमस्थिति में ही डालता है। जैसे स्त्रीवेद के उदय में श्रेणि आरंभ करने वाला स्त्रीवेद के दलिक को प्रथमस्थिति में डालता है। जिस कर्म का उस समय केवल बंध होता हो, उदय नहीं होता उसके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों को द्वितीयस्थिति में ही डालता है, किन्तु प्रथम स्थिति में निक्षेप नहीं करता है। जैसे संज्वलन क्रोध के उदय में श्रेणि आरंभक मानादि के अन्तरकरण के दलिकों को द्वितीयस्थिति में ही डालता है और जिस कर्म का उस समय बंध या उदय कोई एक भी नहीं होता, उसके अन्तरकरण के

दलिकों को बंधती स्वजातीय पर प्रकृति में डालता है। जैसे दूसरी और तीसरी कषाय के दलिकों को पर प्रकृति में प्रक्षिप्त करता है। तथा—

जिस समय अन्तरकरण क्रिया प्रारंभ होती है, उसके बाद के समय से निम्नलिखित सात पदार्थ एक साथ प्रारंभ होते हैं—

१. जिस समय अन्तरकरणक्रिया शुरू हुई, उसके बाद के समय से मोहनीय कर्म का रसबंध एकस्थानक होता है।

२-३. मोहनीयकर्म की उदीरणा संख्यात वर्ष की ही होती है। क्योंकि उस समय संख्यातवर्ष से अधिक स्थिति सत्ता में नहीं होती है तथा आवलिका उदीरणा के बाद का 'च' शब्द अनुक्त का समुच्चायक होने से यह आशय समझना चाहिये कि मोहनीय का जो स्थितिबध होता है, वह संख्यातवर्ष का होता है और वह भी पूर्व-पूर्व से संख्यातगुणहीन होता है।

४. पुरुषवेद और संज्वलनचतुष्क का क्रमपूर्वक ही संक्रम होता है, अर्थात् जिस-जिस प्रकृति का पहले बंधविच्छेद होता है उसके दलिक उत्तर-उत्तर में बंधविच्छेद होने वाली प्रकृतियों में जाते हैं, परन्तु बाद में बधविच्छेद होने वाली प्रकृतियों के दलिक पूर्व में बंध-विच्छेद होने वाली प्रकृति में नहीं जाते हैं। जैसे कि पुरुषवेद के दलिक क्रोधादि में जाते हैं, क्रोध के मानआदि में जाते हैं परन्तु क्रोधादि के पुरुषवेद में या मानादिक के क्रोध में नहीं जाते हैं। अन्तरकरण से पहले तो परस्पर संक्रम होता था।

५. अन्तरकरण के बाद संज्वलन लोभ का अन्य किसी प्रकृति में संक्रमण नहीं होता है।

६. अभी तक बंधे हुए कर्म की बंधावलिका बीतने के बाद उदीरणा होती थी, किन्तु अन्तरकरणक्रिया की शुरुआत के द्वितीय समय से जो कर्म बंधता है, वह छह आवलिका के बाद उदीरणा को प्राप्त होता है।

७. नपुंसकवेद की असंख्य-असंख्य गुणाकार रूप में उपशमना उपशमक्रिया के चरमसमय पर्यन्त होती है और वह इस प्रकार—पहले समय में नपुंसकवेद के दलिक स्तोक उपशमित करता है। [उन दलिकों को इस प्रकार से शांत करता है—उनकी ऐसी स्थिति बना देता है कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त चारित्रमोहनीय की किसी भी प्रकृति में उदय उदीरणा आदि करण प्रवर्तित नहीं होता है।] दूसरे समय में असंख्यातगुण उपशमित करता है। तीसरे समय में उससे असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार प्रति समय असंख्यात-असंख्यात गुण चरमसमय पर्यन्त उपशमित करता है।

नपुंसकवेद को उपशमित करते जितना काल जाये, उस काल का चरमसमय यहाँ जानना चाहिये तथा जितना दलिक उपशांत करता है, उसकी अपेक्षा परप्रकृति में असंख्यातगुण द्विचरमसमयपर्यन्त संक्रमित करता है और चरम समय में तो अन्यप्रकृति में जितना संक्रमित होता है, उसकी अपेक्षा असंख्यातगुण उपशांत होता है।

नपुंसकवेद की उपशमना के प्रथम समय से लेकर समस्त कर्मों की उदीरणा दलिकों की अपेक्षा अल्प होती है और उदय असंख्यात गुणा होता है। इसका कारण यह है कि गुणश्रेणि द्वारा बहुत-सा दलिक नीचे की स्थितियों में क्रमबद्ध स्थापित होने से उदीरणाकरण द्वारा दूसरीस्थिति में से जितना दलिक खींचकर भोगा जाता है उससे उदय द्वारा असंख्यातगुणा अधिक भोगा जाता है। तथा—

अंतरकरणपविट्ठो संखासंखंसमोहइयराणं।
बंधादुत्तरबंधो एवं इत्थीए संखंसे ॥६५॥
उवसंते घाईणं संखेज्जसमा परेण संखंसो।
बंधो सत्तण्हेवं संखेज्जतमंमि उवसंते ॥६६॥

नामगोयाण संखा बंधो वासा असंखिया तइए ।
ता सव्वाण वि संखा तत्तो संखेज्जगुणहाणी ॥६७॥

शब्दार्थ—**अंतरकरणपविट्ठो**—अंतःकरण में प्रविष्ट, **सखासंखंस**—संख्यातगुण और असंख्यातगुण हीन, **मोहइयराणं**—मोहनीय और इतर कर्मों का, **बंधावुत्तरबंधो**—बंध के बाद का बंध, **एवं**—इसी प्रकार, **इत्थीए**—स्त्रीवेद को, **सखंसे**—संख्यातवें भाग ।

उवसंते—उपशांत होने पर, **घाईणं**—घाति कर्मों का, **संखेज्जसमा**—संख्यात वर्ष प्रमाण, **परेण**—उसके बाद का, **संखंसो**—संख्यातवां भाग, **बंधो**—बंध, **सत्तण्हेवं**—सात नोकषायों को इसी प्रकार, **संखेज्जतमंमि**—संख्यातवें भाग, **उवसंते**—उपशांत होने पर ।

नामगोयाण—नाम और गोत्र कर्म का, **संखा**—संख्यात, **बधो**—बंध, **वासा**—वर्ष, **असंखिया**—असंख्यात, **तइए**—तीसरे वेदनीय कर्म का, **ता**—तत्पश्चात्, **सव्वाणवि**—सभी कर्मों का, **संखा**—संख्यात, **तत्तो**—उसके बाद, **संखेज्जगुणहाणी**—संख्यात गुणहीन ।

गाथार्थ—अन्तरकरण में प्रविष्ट जीव मोहनीयकर्म और इतर कर्मों का बंध के बाद का बंध अनुक्रम से संख्यातगुणहीन और असंख्यातगुणहीन करता है । इसी तरह स्त्रीवेद को उपशमित करता है और स्त्रीवेद का संख्यातवां भाग उपशांत होने पर—

घाति कर्मों का संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है, उसके बाद उनका संख्यातवें भाग स्थितिबंध होता है । इसी प्रकार सात को उपशांत करता है, और उनका संख्यातवां भाग उपशांत होने पर—

नाम और गोत्र कर्म का संख्यातवर्षप्रमाण और तीसरे वेदनीय कर्म का असंख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है, तत्पश्चात् सभी कर्मों का संख्यातवर्षप्रमाण बंध होता है, उसके बाद संख्यातगुणहीन बंध होता है ।

विशेषार्थ—अन्तरकरण में प्रवेश करके जीव पहले समय में ही मोहनीय का जो बंध करता है, उससे उसके बाद का बंध संख्यातगुण-हीन करता है। यानि अन्तरकरण के पहले समय में जो बंध करता है, उसके संख्यातवें भागप्रमाण बाद का बंध करता है। जो बंध जिसकी अपेक्षा संख्यातवे भाग है, वह बंध उसकी अपेक्षा संख्यातगुणहीन ही कहलाता है तथा मोहनीय वर्जित शेष कर्मों का पूर्व बंध से उत्तर बंध असंख्यातगुणहीन करता है—असंख्यातवें भाग प्रमाण करता है।

इस प्रकार की क्रिया करते अन्तर्मुहूर्त में नपुंसकवेद उपशांत करता है और उसको उपशमित करने के बाद स्त्रीवेद को उपशमित करने की क्रिया प्रारंभ होती है तथा उसको हजारों स्थितिबंध बीतने के बाद नपुंसकवेद की उपशमना के अनुसार उपशमित करता है। अर्थात् नपुंसकवेद के उपशमित होने के बाद हजारों स्थितिघात जितने काल में स्त्रीवेद को भी उपशमित करता है और स्त्रीवेद को उपशमित करते हुए उसका संख्यातवां भाग उपशांत होने के अनन्तर घाति कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तराय का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है।

उस संख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध होने के बाद का जो स्थितिबंध होता है, उस समय से लेकर केवलज्ञानावरण को छोड़कर शेष चार ज्ञानावरण का, केवलदर्शनावरण को छोड़कर शेष तीन दर्शनावरण का एकस्थानक रसबंध करता है। उसके बाद हजारों स्थितिबंध होने के बाद स्त्रीवेद उपशांत होता है। स्त्रीवेद के उपशांत होने के अनन्तर नपुंसकवेद को जिस तरह उपशमित किया, उसी प्रकार हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों की एक साथ उपशमन क्रिया प्रारम्भ करता है।

इन सात को उपशमित करते उनका संख्यातवां भाग जब उपशमित हो जाता है तब नाम और गोत्र कर्म का सख्यातवर्षप्रमाण और तीसरे वेदनीय कर्म का असंख्यातवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है।

उस स्थितिबंध के पूर्ण होने के बाद वेदनीय कर्म का भी उत्तर का स्थितिबंध संख्यातवर्षप्रमाण होता है। वेदनीयकर्म का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होने के बाद से समस्त कर्मों का स्थितिबंध संख्यातवर्षप्रमाण होता है और पूर्व-पूर्व स्थितिबंध से उत्तर-उत्तर का स्थितिबंध संख्यातगुण हीन-हीन होता है। तत्पश्चात् हजारों स्थितिबंध हो जाने के बाद हास्यषट्क और पुरुषवेद ये सातों नोकषाय शांत होती हैं।

हास्यषट्क उपशांत होने के बाद पुरुषवेद का अनुपशमित जितना दलिक शेष रहता है, उसका प्रमाण इस प्रकार है—

जं समए उवसंतं छक्कं उदयट्ठिई तया सेसा।
पुरिसे समऊणावलिदुगेण बंधं अणुवसंतं ॥६८॥

शब्दार्थ—**जं समए**—जिस समय, **उवसंतं**—उपशांत हुआ, **छक्कं**—(हास्य) षट्क, **उदयट्ठिई**—उदयस्थिति, **तया**—तब, **सेसा**—शेष, **पुरिसे**—पुरुषवेद का, **समऊणावलिदुगेण**—समयोन आवलिकाद्विक, **बंधं**—बंधा हुआ, **अणुवसंतं**—अनुपशांत।

गाथार्थ—जिस समय हास्यषट्क उपशांत हुआ उस समय पुरुषवेद का एक उदयस्थिति और समयोन आवलिकाद्विक काल में बंधा हुआ दलिक अनुपशांत शेष रहता है।

विशेषार्थ—जिस समय हास्यादि छह नोकषाय उपशमित हुई, उस समय पुरुषवेद की एक उदयस्थिति—मात्र उदय-समय शेष रहता है और शेष सभी प्रथमस्थिति भोग ली जाती है। उस प्रथम-स्थिति के चरम समय में पुरुषवेद का अंतिम सोलहवर्षप्रमाण स्थितिबंध होता है। उसके साथ द्वितीयस्थिति में समयन्यून आवलि-काद्विककाल में बंधा हुआ दलिक अनुपशमित शेष रहता है। शेष सबकी उपशमना हो चुकी होती है।

जिसका विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

आगालेण समगं पडिग्गहया फिडई पुरिसवेयस्स ।
सोलसवासिय बंधो चरिमो चरिमेण उदएण ॥६६॥

तावइ कालेणं चिय पुरिसं उवसामए अवेदो सो ।
बंधो बत्तीससमा संजलणियराण उ सहस्सा ॥७०॥

शब्दार्थ—**आगालेण समगं**—आगाल के साथ, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रहता, **फिडइ**—नष्ट हो जाती है, **पुरिसवेयस्स**—पुरुषवेद की, **सोलसवासिय**—सोलह वर्ष का, **बंधो**—बंध, **चरिमो**—चरम, **चरिमेण उदएण**—अंतिम उदय के साथ ।

तावइ कालेणं—उतने काल में, **चिय**—ही, **पुरिसं**—पुरुषवेद को, **उवसामए**—उपशमित करता है, **अवेदो**—अवेदक, **स**—वह, **बंधो**—बंध, **बत्तीस समा**—बत्तीस वर्ष प्रमाण, **संजलणियराण**—संज्वलनकषाय और अन्य कर्मों का, **उ**—और, **सहस्सा**—संख्याता हजार वर्ष ।

गाथार्थ—आगाल के साथ पुरुषवेद की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाती है । सोलह वर्ष का चरमबंध भी अंतिम उदय के साथ नष्ट हो जाता है तथा अवेदक होता हुआ अनुपशमित पुरुषवेद को उतने ही काल में उपशमित करता है । जिस समय पुरुषवेद उपशांत हुआ, उस समय संज्वलन कषाय का बत्तीस वर्ष प्रमाण और इतर कर्मों का संख्याता हजार वर्ष का बंध होता है ।

विशेषार्थ—पुरुषवेद की प्रथमस्थिति की दो आवलिका शेष रहती हैं तब उसके आगाल का विच्छेद होता है और उसी समय पुरुषवेद की पतद्ग्रहता भी नष्ट होती है । यानि हास्यादि षट्कादि प्रकृतियों के दलिक पुरुषवेद में नहीं परन्तु संज्वलनक्रोधादि में संक्रमित होते हैं । पुरुषवेद का सोलहवर्षप्रमाण जो अंतिम स्थितिबंध होता है, वह भी प्रथमस्थिति के अंतिम उदयसमय के साथ नष्ट हो जाता है।

बंध और उदय साथ ही दूर होते हैं और उदीरणा प्रथमस्थिति की एक आवलिका बाकी रहे तब दूर होती है और संज्वलन कषाय-चतुष्क का संख्याता हजारवर्ष का बंध होता है।

जिस समय पुरुषवेद का अंतिम बंध होता है, उस समय उस समय से दूसरी आवलिका के अंतिम समय का बंध हुआ और संक्रम से आगत समस्त दलिक शांत हो जाता है। जैसे आवलिका के चार समय मान ले और आठवें समय को अंतिम समय मान लिया जाये तो उस समय से अंतिम पूर्व के आठवें समय का बंधा हुआ और उस समय संक्रम से आगत अंतिम समय में शांत होता है, जिससे बंधविच्छेद के समय समयन्यून आवलिकाद्विक का बंध हुआ ही अनुपशमित बाकी रहता है और अवेदकपने के पहले समय में दो समय न्यून दो आवलिका-काल में बंधा हुआ उपशम बिना का शेष रहता है और उतने ही काल में उपशमित करता है।

प्रथमस्थिति की समयन्यून आवलिकाद्विक शेष रहे तब पुरुषवेद की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाने से अवेदकपने के प्रथमसमय में संक्रम से प्राप्त दलिक को शान्त करना रहता ही नहीं है। इसका कारण यह है कि जिस समय बंधे उस समय से एक आवलिका तदवस्थ बना रहता है और आवलिका पूरी होने के बाद उपशम करना प्रारम्भ करता है और एक आवलिकाकाल में उपशमित कर देता है। इस कारण ही जिस समय बंधा, उस समय से आवलिका जाने के बाद अनन्तरवर्ती आवलिका के चरम समय से पूर्णरूप से शान्त होता है। यानि जिस समय अन्तिम बंध होता है, उस समय से लेकर पूर्व के दूसरी आवलिका के चरम समय में जो बंधा वह बंधविच्छेद के समय शान्त होता है और बाद के समय जो बंधा वह अवेदकपने के पहले समय में शान्त होता है। इस क्रम से शान्त करता है, इसीलिए अवेदकपने के प्रथम समय में दो समयन्यून आवलिकाद्विक काल का बंधा हुआ ही अनुपशमित शेष रहता है और उसको उतने ही काल में शान्त करता है।

उपशमक्रिया करने का क्रम इस प्रकार है—बंधविच्छेद के बाद का यानि अबंध के प्रथम समय में स्तोक उपशमित करता है, द्वितीय समय में असंख्यातगुण, तृतीय समय में उससे असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार उपशम करते हुए दो समय न्यून दो आवलिका के चरम समय में पूर्ण रूप से उपशमित करता है। जैसे उपशमित करता है वैसे ही दो समय न्यून दो आवलिका पर्यन्त यथाप्रवृत्तसंक्रम के द्वारा पर में संक्रमित भी करता है।

संक्रम की विधि इस प्रकार है—पहले समय में बहुत संक्रमित करता है, दूसरे समय में विशेषन्यून, तीसरे समय में विशेषन्यून, इस प्रकार चरम समय पर्यन्त संक्रमित करता है। इस तरह उत्तरोत्तर अधिक-अधिक उपशमाते और न्यून-न्यून संक्रमित करते अवेदकपने के प्रथम समय से दो समय न्यून दो आवलिकाकाल में पुरुषवेद सम्पूर्ण शान्त होता है। जिस समय पुरुषवेद पूरी तरह से शान्त होता है, उस समय संज्वलनकषाय का बत्तीस वर्ष का[1] और शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय, नाम और गोत्र कर्म का संख्याता हजार वर्ष का स्थितिबंध होता है।

अब अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की उपशमना का विचार करते हैं।

अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों की उपशमना

अव्वेयपढमसमया कोहतिगं आढवेइ उवसमिउं।
तिसु पडिग्गहया एक्का उदओ य उदीरणा बंधो ॥७१॥
फिट्टन्ति आवलीए सेसाए सेसयं तु पुरिससमं।
एवं सेसकसाया वेयइ थिबुगेण आवलिया ॥७२॥

शब्दार्थ—**अव्वेयपढमसमया**—अवेदकपने के प्रथम समय से, **कोहतिगं**—

---

१ कर्मप्रकृति में अन्तर्मुहूर्त न्यून बत्तीस वर्ष का बंध बताया है।

क्रोधत्रिक को, **आढवेइ**—प्रारम्भ करता है, **उवसमिउं**—उपशमित करना, **तिसु**—तीन आवलिका, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रहता, **एक्का**—एक की (संज्वलन-क्रोध की), **उदओ**—उदय, **य**—और, **उदीरणा**—उदीरणा, **बंधो**—बंध।

फिट्टन्ति—नष्ट होती है, **आवलीए**—आवलिका, **सेसाए**—शेष रहने पर, **सेसय**—शेष, **तु**—और, **पुरिससमं**—पुरुषवेद के समान, **एवं**—इसी प्रकार, **सेसकसाया**—शेष कषायों को, **वेयइ**—वेदन करता है **थिबुगेण**—स्तिबुक संक्रम द्वारा, **आवलिया**—आवलिका।

गाथार्थ—अवेदकपने के प्रथम समय से तीन क्रोध को उपशमित करना प्रारम्भ करता है। प्रथमस्थिति की तीन आवलिका बाकी रहे तब संज्वलन क्रोध की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाती है और एक आवलिका शेष रहने पर उदय, उदीरणा और बंध नष्ट हो जाता है। शेष पुरुषवेद के समान जानना चाहिए। इसी प्रकार शेष कषायों को उपशमित करता है तथा अन्तिम आवलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा वेदन करता है।

विशेषार्थ—जिस समय पुरुषवेद का अवेदक होता है तो उस अवेदकपने के प्रथम समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन क्रोध इन तीनों क्रोध को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है। उपशमन करते पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यातगुण उपशमित करता जाता है।

इन तीनों की उपशमनक्रिया प्रारम्भ करते जो स्थितिबंध होता है, उसके बाद का संज्वलन का संख्यातभागहीन और शेष कर्मों का संख्यातगुणहीन स्थितिबंध होता है तथा शेष स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रम पूर्व के समान ही होता है।

संज्वलनक्रोध की प्रथमस्थिति जब समयोन तीन अवलिका शेष रहे तब उसकी पतद्ग्रहता नष्ट हो जाती है। यानि संज्वलनक्रोध में अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण क्रोध के दलिक संक्रमित नहीं होते

हैं किन्तु मानादिक में संक्रमित होते हैं। प्रथमस्थिति की दो आवलिका बाकी रहें तब आगाल का विच्छेद होता है, मात्र उदीरणा होती है और वह भी प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहे, तब तक ही होती है। उदयावलिका के चरम समय में संज्वलन क्रोधादि चारों का स्थितिबंध चार मास का और शेष कर्मों का संख्याता हजार वर्ष का होता है तथा उदीरणावलिका के चरम समय में संज्वलनक्रोध का बंध, उदय और उदीरणा इन तीनों का एक साथ ही विच्छेद होता है और उसी समय अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध पूर्ण रूप से उपशमित हो जाता है।

जिस समय संज्वलनक्रोध का उदयविच्छेद होता है, उस समय उदयावलिकागत दलिक और समयोन दो आवलिकाकाल में बंधे हुए दलिक को छोड़कर संज्वलनक्रोध का शेष सभी दलिक शान्त हो जाता है। उस समयोन दो आवलिकाकाल में बंधे हुए दलिक को उतने ही काल में पुरुषवेद के लिये कहे गये क्रमानुसार उपशमित करता है तथा जिस प्रकार तीनों क्रोधों को उपशान्त करता है, उसी प्रकार से शेष अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान, माया और लोभ कषाय को उपशमित करता है। उन प्रत्येक की प्रथमस्थिति की जो आवलिका शेष रहती है उसे उत्तर-उत्तर की कषाय में स्तिबुक-संक्रम द्वारा संक्रमित करके अनुभव करता है।

जिसका विशेषता के साथ स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब संज्वलनक्रोध का बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, तब उसकी प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहती है और उस शेष आवलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा मान में प्रक्षेप करके अनुभव करता है और जो समयन्यून दो आवलिकाकाल में बंधा हुआ अनुपशान्त दलिक सत्ता में है, उसे उतने ही काल में यानि बंधविच्छेद समय से समयोन दो आवलिकाकाल और अबंध के प्रथम समय से दो

समय न्यून दो आवलिका काल में उपशमित करता है। उपशमित करने का क्रम इस प्रकार है—

प्रथम समय में अल्प उपशमित करता है, दूसरे समय में असंख्यातगुण, तीसरे समय में पूर्व में असंख्यातगुण उपशमित करता है। इस प्रकार अबंध के प्रथम समय से दो समय न्यून दो आवलिका के चरम समय पर्यन्त उपशमित करता है। जैसे उपशमित करता है, वैसे ही मान आदि में यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा पुरुषवेदोक्त क्रम से संक्रमित भी करता है। इस तरह संज्वलनक्रोध को पूर्ण रूप से उपशमित करता है।

जिस समय संज्वलनक्रोध का बंध, उदय और उदीरणा विच्छिन्न हुई, उसी समय यानि संज्वलनक्रोध के अबंध समय से लेकर संज्वलनमान की द्वितीयस्थिति में से दलिकों को आकृष्ट कर प्रथमस्थिति करता है और अनुभव करता है। इसका कारण यह है कि जिस समय संज्वलनक्रोध का अन्तिम उदय रुका तो उसके बाद के समय से मान का उदय प्रारम्भ होता है। पूर्व के उदयविच्छेद और उत्तर के उदय के बीच अन्तर नहीं होता है। द्वितीयस्थिति में से खींचे गये दलिकों में से उदयसमय में अल्प प्रक्षेप करता है, दूसरे समय में असंख्यातगुण तीसरे समय में असंख्यातगुण प्रक्षेप करता है। इस तरह प्रथमस्थिति के चरम समय पर्यन्त प्रक्षेप करता है। अभी तक मान का प्रदेशोदय था जिससे एक प्रदेशोदयावलिका छोड़कर गुणश्रेणि के क्रम से दलिक स्थापित होता था, किन्तु अब रसोदय हुआ, जिससे उदय से लेकर गुणश्रेणि के क्रम से दलिक रखे जाते हैं।

प्रथमस्थिति के प्रथम समय में संज्वलनमान का स्थितिबंध चार मास और शेष ज्ञानावरणादि का संख्याता हजार वर्ष का होता है। उसी समय से अप्रत्याख्यानावरणादि तीनों मान का क्रोधादि के क्रम से एक साथ ही उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

संज्वलनमान की जब प्रथमस्थिति समयन्यून तीन आवलिका शेष रहे तब अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों को संज्वलनमान में सक्रमित नहीं करता है किन्तु संज्वलनमाया आदि में संक्रमित करता है। दो आवलिका शेष रहे तब आगाल का विच्छेद होता है, केवल उदीरणा ही प्रवर्तमान रहती है और वह भी एक आवलिका पर्यन्त ही होती है। उस उदीरणावलिका के चरम समय में बंध और उदय भी रुक जाता है। ये तीनों एक साथ ही दूर होते हैं। उस समय प्रथमस्थिति की एक आवलिका शेष रहती है।

जिस समय मान का बंधविच्छेद होता है, उस समय संज्वलन मान, माया और लोभ का स्थितिबंध दो मास और शेष कर्मों का संख्याता वर्ष का होता है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान तो सर्वथा शान्त और संज्वलनमान की प्रथमस्थिति की अन्तिम एक आवलिका तथा समयोन दो आवलिका काल में बधे हुए दलिक को छोड़कर शेष सभी शान्त होता है। प्रथमस्थिति की आवलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा माया में संक्रमित कर वेदन करता है और समयोन दो आवलिका काल में बंधे हुए दलिक को उतने काल में पुरुषवेद के क्रम से उपशान्त और सक्रमित करता है।

मान का उदयविच्छेद होने के बाद संज्वलनमाया की द्वितीय-स्थिति में से दलिकों को लेकर प्रथमस्थिति करता है और वेदन करता है। उस प्रथमस्थिति के चरम समय में माया और लोभ का दो मास का और शेष कर्मों का संख्यातवर्ष का स्थितिबंध होता है। उसी समय से लेकर तीनों माया को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

संज्वलनमाया की प्रथमस्थिति समयोन तीन आवलिका बाकी रहे तब अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया को संज्वलनमाया की पतद्ग्रहता नष्ट हो जाने से उसमें नहीं किन्तु संज्वलनलोभ में संक्रमित करता है। दो आवलिका शेष रहे तब आगाल नहीं होता है,

केवल एक आवलिका पर्यन्त उदीरणा प्रवर्तित होती है। उस उदीरणा-करण के चरम समय में संज्वलनमाया और लोभ का स्थितिबंध एक मास का और शेष कर्मों का संख्यात वर्ष का होता है तथा उसी समय संज्वलनमाया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण माया सर्वथा शान्त और संज्वलन-माया की प्रथमस्थिति की एक आवलिका और समयोन दो आवलिका काल में बंधे हुए दलिक को छोड़कर शेष समस्त शान्त हो जाता है। अवशिष्ट प्रथमस्थिति की अन्तिम आवलिका को संज्वलनलोभ में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित कर वेदन करता है। समयोन आवलिका-द्विक काल में बंधे हुए दलिक को उतने ही काल में पुरुषवेद के क्रम से उपशान्त करता है और संज्वलन लोभ में संक्रमित करता है।

उसके बाद के समय में यानि जिस समय माया का उदयविच्छेद हुआ, उसके अनन्तरवर्ती समय में संज्वलन लोभ की द्वितीयस्थिति में से दलिकों को लेकर प्रथमस्थिति करता है और अनुभव करता है। इसी प्रकार क्रोध का उदयविच्छेद होने के बाद मान का उदय, उसका उदयविच्छेद होने के बाद माया का उदय और उसका उदयविच्छेद होने के बाद लोभ का उदय होता है एवं प्रत्येक की प्रथमस्थिति की जो अन्तिम-अन्तिम आवलिका शेष रहती है, वह उत्तर-उत्तर में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित करके वेदन करता है।

यद्यपि संज्वलन क्रोधादि का अपने-अपने उदय के चरम समय में जितना स्थितिबंध होता है, उसका ऊपर संकेत किया जा चुका है, लेकिन उपशम और क्षपक श्रेणि की अपेक्षा उसमें जो विशेषता है, उसको यहाँ स्पष्ट करते हैं—

चरिमुदयम्मि जहन्नो बंधो दुगुणो उ होइ उवसमगे।
तयणंतरपगईए चउग्गुणोण्णेसु संखगुणो ॥७३॥

शब्दार्थ—**चरिमुदयम्मि**—उदय के चरम समय में, **जहन्नो**—जघन्य, **बंधो**—बंध, **दुगुणो**—दुगुना, **उ**—और, **होइ**—होता है, **उवसमगे**—उपशम

श्रेणि में, **तयणंतरपगईए**—तदनन्तर प्रकृति का, **चउग्गुणोण्णेसु**—चौगुना और अन्य प्रकृतियों का, **संखगुणो**—संख्यातगुणा।

गाथार्थ—संज्वलन क्रोधादि का अपने-अपने उदय के चरम समय में क्षपकश्रेणि में जो जघन्य स्थितिबंध होता है उससे उपशमश्रेणि में वह बंध दुगुना होता है। तदनन्तर प्रकृति का चौगुना और अन्य कर्मों का संख्यातगुण होता है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि में क्षपक को अपने-अपने उदय के चरम समय में संज्वलन क्रोधादि का जो जघन्य स्थितिबंध होता है, वहाँ वह स्थितिबंध उपशमक को दुगुना होता है, उसी समय तदनन्तर प्रकृति का चौगुना और इसके बाद की प्रकृति का आठ गुना होता है और अन्य कर्मों का संख्यातगुण होता है।

इस संक्षिप्त कथन का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

क्षपकश्रेणि में संज्वलनक्रोध का अपने-अपने उदय के चरम समय में दो मास का जघन्य स्थितिबंध होता है। उपशमश्रेणि में मन्द परिणाम होने से वहीं अपने उदय के चरम समय में दुगुना यानि चार मास प्रमाण स्थितिबंध होता है और उसी समय क्रोध की अनन्तरवर्ती प्रकृति जो मान है, उसके लिए विचार करें तो उसका चार गुणा यानि चार मास प्रमाण बंध होता है और मान की अनन्तरवर्ती प्रकृति माया का आठ गुना बंध होता है। इसका कारण यह है कि संज्वलनक्रोध के चरमोदय काल में क्रोधादि चारों का चार मास का जघन्य स्थितिबंध होता है। वह चार मास प्रमाण बंध क्षपकश्रेणि में क्रोध, मान और माया के बंधविच्छेदकाल में होने वाले बंध से दुगुना, चार गुना और आठ गुना है।

यहाँ क्षपकश्रेणि में क्रोध, मान और माया का अपने-अपने अन्तिम उदय समय में जो जघन्य स्थितिबंध होता है, उससे उपशमश्रेणि में क्रोध के चरमोदय काल में क्रोधादि तीन का बंध कितना गुणा होता है, यह बताया है।

इसी प्रकार मान के चरमोदय काल में मान, माया का कितना गुणा बंध होता है, यह बताया है। जैसे कि क्षपकश्रेणि में अपने-अपने चरमोदय समय में क्रोध का दो मास, मान का एक मास और माया का पन्द्रह दिवस का स्थितिबंध होता है। उपशमश्रेणि में क्रोध के चरमोदय काल में क्रोध, मान और माया प्रत्येक का चार मास का जघन्य स्थितिबंध होता है। जिससे क्रोध का दुगुना, मान का चार गुणा और माया का आठ गुणा घटित हो सकता है। इसी प्रकार मान के चरमोदय काल में मान और माया का दो मास का जघन्य स्थितिबंध होता है, वह क्षपकश्रेणि के जघन्य स्थितिबंध से दुगुना और चौगुना होता है। माया के चरमोदय काल में उसका एक मास का जघन्य स्थितिबंध होता है, वह क्षपकश्रेणि में चरमोदय काल में होने वाले जघन्य स्थितिबंध से दुगुना है, तथा शेष ज्ञानावरणादि कर्मों का सर्वत्र संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है, मात्र पूर्व-पूर्व स्थितिबंध से उत्तरोत्तर स्थितिबंध हीन-हीन होता है।

इस प्रकार से क्रोध, मान, माया के स्थितिबंध का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अब संज्वलन लोभ के सम्बन्ध में विचार करते हैं।

संज्वलन लोभ की वक्तव्यता

लोभस्स उ पढमठिइं बिईयठिइओ उ कुणइ तिविभागं।
दोसु दलणिक्खेवो तइयो पुण किट्टीवेयद्धा ॥७४॥

शब्दार्थ—**लोभस्स**—लोभ की, **उ**—और, **पढमठिइं**—प्रथमस्थिति, **बिईयठिइओ**—द्वितीयस्थिति में, **उ**—और, **कुणइ**—करता है, **तिविभागं**—तीन विभाग, **दोसु**—दो में, **दलणिक्खेवो**—दलिकनिक्षेप, **तइयो**—तीसरा, **पुण**—पुनः, **किट्टीवेयद्धा**—किट्टिवेदनाद्धा—किट्टीवेदन काल।

गाथार्थ—(माया का उदयविच्छेद होने के बाद) लोभ की द्वितीयस्थिति में से तीन भाग वाली प्रथमस्थिति करता है।

आदि के दो भागों में दलिक निक्षेप करता है और तीसरा भाग किट्टिवेदनाद्धा—किट्टिवेदन का काल है।

विशेषार्थ—माया के उदयविच्छेद के बाद के समय से लेकर लोभ का उदय होता है। उस लोभ की दूसरी स्थिति में से दलिकों को उतारकर उनकी प्रथमस्थिति करता है और लोभ की प्रथमस्थिति के तीन भाग करता है—१ अश्वकर्णकरणाद्धा, २ किट्टिकरणाद्धा और, ३ किट्टिवेदनाद्धा।

प्रवर्धमान रसाणु वाली वर्गणाओं का क्रम खण्डित किये सिवाय अत्यन्त हीन रस वाले स्पर्धक करना उन्हें अपूर्वस्पर्धक कहते हैं। उन अपूर्वस्पर्धकों को करने का काल अश्वकर्णकरणाद्धा कहलाता है।

उनका इतना अधिक रस न्यून कर देना कि जिसके कारण प्रवर्धमान रस वाली वर्गणाओं का क्रम टूट जाये, उसे किट्टि कहते हैं और जिस काल में किट्टियां हों, वह किट्टिकरणाद्धा कहलाता है।

नौवें गुणस्थान में की हुई उन किट्टियों के अनुभव काल को किट्टिवेदनाद्धा कहते हैं।

जिस समय लोभ का उदय होता है, उस समय से नौवें गुणस्थान का जितना काल बाकी है, उसके दो भाग होते हैं। उनमें के प्रथम-भाग में अपूर्वस्पर्धक होते हैं और द्वितीयभाग में किट्टियां होती हैं और सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में किट्टिकरणाद्धा में की हुई किट्टियों का वेदन—अनुभव करता है। नौवें गुणस्थान में जिस समय से लोभ का उदय होता है, उस समय से लेकर उसका जितना काल शेष है, उससे उसकी प्रथमस्थिति एक आवलिका अधिक करता है। आवलिका अधिक कहने का कारण नौवें गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त तो लोभ के रसोदय का अनुभव करता है, लेकिन उसकी प्रथमस्थिति की एक आवलिका बाकी रहती है और नौवें गुणस्थान को पूर्णकर दसवें गुणस्थान में जाता है। वहां अवशिष्ट उस आवलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा

सूक्ष्मकिट्टियों में संक्रमित करके अनुभव करता है। इसीलिए एक आवलिका अधिक करना कहा है।

अश्वकर्णकरणाद्धा के प्रथम समय से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन लोभ, इस तरह तीनों लोभों को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है तथा उस अश्वकर्णकरणाद्धा के काल में अन्य जो कुछ करता है अब उसका निर्देश करते हैं।

अश्वकर्णकरणाद्धा में करणीय

संताणि बज्झमाणग सरूवओ फड्डगाणि जं कुणइ।
सा अस्सकण्णकरणद्धा मज्झिमा किट्टिकरणद्धा ॥७५॥

शब्दार्थ—**संताणि**—सत्तागत, **बज्झमाणग**—बध्यमान, **सरूवओ**—स्वरूप से, **फड्डगाणि**—स्पर्धक, **जं**—जो, **कुणइ**—करता है, **सा**—वह, **अस्सकण्णकरणद्धा**—अश्वकर्णकरणाद्धा, **मज्झिमा**—मध्यम, **किट्टिकरणद्धा**—किट्टिकरणाद्धा।

गाथार्थ—लोभ के सत्तागत स्पर्धकों को तत्काल बध्यमान स्पर्धक स्वरूप से जो करता है, वह अश्वकर्णकरणाद्धा है। उसके बाद किट्टिकरणाद्धा होता है।

विशेषार्थ—माया के जो दलिक संज्वलनलोभ में संक्रमित हुए हैं और पूर्व में जो संज्वलनलोभ के दलिक बंधे हुए सत्तागत है, उनको तत्काल बध्यमान संज्वलनलोभ रूप में यानि तत्काल बंधते हुए संज्वलन लोभ की तरह अत्यन्त नीरस जिसमें किया जाता है वह अश्वकर्णकरणाद्धा है।

इसका विशेष विचार इस प्रकार है—अश्वकर्णकरणाद्धा के काल में वर्तमान माया के जो दलिक संज्वलन लोभ में संक्रमित हुए हैं तथा पूर्व में बंधे हुए लोभ के जो दलिक सत्ता में हैं, उनको प्रति समय ग्रहण करके तत्काल बंधते हुए संज्वलनलोभ के जैसे अत्यन्त हीन रसवाला करता है, किन्तु प्रवर्धमान रसाणुओं के क्रम को तोड़ता नहीं

है। संसार में परिभ्रमण करते इससे पहले किसी भी काल में बंधाश्रयी ऐसे हीन रस वाले स्पर्धक नहीं बांधे थे, परन्तु विशुद्धि के कारण अभी ही सत्ता में इतने अधिक हीन रस वाला करता है।

इस प्रकार प्रति समय अपूर्व स्पर्धक करते संख्याता स्थितिबंध जायें तब अश्वकर्णकरणाद्धा पूर्ण होता है। तत्पश्चात् किट्टिकरणाद्धा में प्रवेश करता है। उस समय संज्वलनलोभ का स्थितिबंध दिवस-पृथक्त्व होता है और शेष कर्मों का वर्षपृथक्त्व प्रमाण होता है। किट्टिकरणाद्धा के काल में पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धकों में से दलिकों को ग्रहण करके समय-समय (प्रतिसमय) अनन्त-अनन्त किट्टियां करता है।

यहाँ अपूर्वस्पर्धक और पूर्वस्पर्धक इन दोनों को कहने का तात्पर्य यह है कि अपूर्वस्पर्धक के काल में जितने स्पर्धक तत्काल बंधते संज्वलनलोभ के जैसे अल्परस वाले किये हैं, तथा उस काल में जिन स्पर्धकों के अपूर्वस्पर्धक नहीं किये हैं, उन दोनों को ग्रहण करके किट्टियां करता है। अपूर्वस्पर्धककाल में सत्तागत सभी स्पर्धक अपूर्व नहीं होते हैं, कितनेक होते हैं और कितनेक वैसे ही रहते हैं।

अब किट्टियों के स्वरूप और प्रथम समय में कितनी किट्टियां करता है ? यह स्पष्ट करते हैं।

किट्टियों का स्वरूप

अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणूण विभयणं किट्टि।
पढमसमयंमि रसफड्डगवग्गणाणंतभाग समा ॥७६॥

शब्दार्थ—अप्पुव्वविसोहीए—अपूर्व विशुद्धि द्वारा, **अणुभागोणूण**—अनुभाग (रस) को न्यून करना, **विभयणं**—खंडित करके, **किट्टि**—किट्टि, **पढमसमयंमि**—प्रथम समय में, **रसफड्डगवग्गाणंतभाग समा**—रसस्पर्धकगत वर्गणा के अनन्तवें भाग समान।

गाथार्थ—अपूर्वविशुद्धि द्वारा प्रवर्धमान रसाणु का क्रम खंडित कर अत्यन्त हीन रस करना किट्टि कहलाता है। प्रथम

समय में रसस्पर्धकगत वर्गणा के अनन्तवें भाग समान किट्टियां होती हैं।

विशेषार्थ—पूर्वस्पर्धक और अपूर्वस्पर्धक में से वर्गणाओं को ग्रहण करके अपूर्वविशुद्धि द्वारा अपूर्वस्पर्धक करते समय जो रस कम किया था, उससे भी अनन्तगुणहीन रस करके प्रवर्धमान रसाणु का क्रम खंडित करना और वर्गणा-वर्गणा के बीच बड़ा अंतर कर देना, किट्टि कहलाता है। जैसे कि जिस वर्गणा में असत्कल्पना से एक सौ एक, एक सौ दो, एक सौ तीन रसाणु थे, उनके रस को कम करके अनुक्रम से पांच, पन्द्रह, पच्चीस रसाणु रखना किट्टि कहलाता है। इस प्रकार से किट्टियां करते समय अपूर्वस्पर्धक के काल में जो रस कम हुआ था, उससे भी अनन्तगुणहीन रस होता है और वर्गणा-वर्गणा के बीच एक बड़ा अंतर पड़ता है। अपूर्वस्पर्धकों में एक रसाणु अधिक, दो रसाणु अधिक इस तरह प्रवर्धमान रसाणु वाली वर्गणायें मिल सकती हैं, जिससे पूर्व की तरह उनके स्पर्धक भी हो सकते हैं, किन्तु किट्टियां होती हैं तब वह क्रम नहीं रहता है। किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय में अनन्ती किट्टियां करता है और वे किट्टियां एक स्पर्धक में रही हुई अनन्ती वर्गणाओं के अनन्तवें भाग होती हैं और उनको सर्व-जघन्य रसस्पर्धक में जितना रस है, उससे भी हीन रस वाला करता है।

अब इसी बात को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—

सव्वजहन्नगफड्डगअणन्तगुणहाणिया उ ता रसओ।
पइसमयमसंखंसो आइमसमया उ जावन्तो ॥७७॥
अणुसमयमसंखगुणं दलियमणन्तंसओ उ अणुभागो।
सव्वेसु मन्दरसाइयाण दलियं विसेसूणं ॥७८॥

शब्दार्थ—सव्वजहन्नगफड्डग—सर्वजघन्य रसस्पर्धक, अणन्तगुणहाणिया—अनन्तगुणहीन, उ—भी, ता—वे, रसओ—रस से, पइसमयमसंखंसो

—प्रति समय असंख्यातवें भाग, **आइमसमया**—प्रथम समय से, **उ**—भी, **जावन्तो**—चरमसमय पर्यन्त।

अणुसमयमसंखगुणं—प्रत्येक समय असंख्यातगुण, **दलियं**—दलिक, **अणन्तंसओ**—अनन्तवें भाग, **उ**—और, **अणुभागो**—अनुभाग (रस), **सव्वेसु**—सभी में **मन्दरसमाइयाण**—मन्द रस वाली, **दलिय**—दलिक, **विसेसूणं**—विशेषहीन।

गाथार्थ—वे किट्टियाँ रस की अपेक्षा सर्वजघन्य रसस्पर्धक से अनन्तगुणहीन रस वाली करता है। पहले समय से प्रत्येक समय में असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियाँ होती हैं, इस तरह किट्टिकरणाद्धा के चरम समय पर्यन्त करता है।

प्रत्येक समय दलिक असंख्यातगुण होते हैं और रस अनन्तवें भाग होता हैं। सभी समयों में मन्दरस वाली किट्टियों में दलिक विशेष और उससे अधिक रस वाली में अल्प, इस तरह अधिक-अधिक रस वाली किट्टियों में दलिक विशेष हीन-हीन होते हैं। इसी तरह प्रत्येक समय हुई किट्टियों में समझना चाहिए।

विशेषार्थ—सत्ता में हीनातिहीन रस वाला जो रसस्पर्धक है उससे भी रस की अपेक्षा उन किट्टियों को अनन्तगुण हीन रस वाली करता है। अर्थात् सत्ता में रहे हुए अल्पातिअल्प रस वाले स्पर्धक में जो रस है, उससे भी किट्टियों में अनन्तवें भाग प्रमाण रस रखता है। वे किट्टियां किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय से आरम्भ कर पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग करता है। जिससे किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय में एक रस-स्पर्धक में जितनी वर्गणायें होती हैं, उनके अनन्तवें भाग प्रमाण किट्टियां करता है। दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणहीन, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुणहीन किट्टियां करता है। इस प्रकार किट्टिकरणाद्धा के चरमसमयपर्यन्त किट्टियां करता है। इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में अधिक किट्टियां करता है और

उत्तरोत्तर समय में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा असंख्यातवें-असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियां करता है। तथा—

प्रत्येक समय जो किट्टियां होती हैं, उनके दलिकों का प्रमाण पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण-असंख्यातगुण होता है। अर्थात् पहले समय में जो किट्टियां होती हैं, उन सब किट्टियों का दलिक दूसरे समय की किट्टियों की अपेक्षा अल्प होता है। उससे दूसरे समय में हुई सभी किट्टियों का दलिक असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में की गई सभी किट्टियों का दलिक असंख्यातगुण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यातगुण दलिक किट्टिकरणाद्धा के चरम समय पर्यन्त होते हैं और रस की अपेक्षा विचार करें तो वह अनन्तवें भाग मात्र होता है। पहले समय में की गई सभी किट्टियों में रस अधिक होता है, उससे दूसरे समय में की गई सभी किट्टियों में अनन्तगुणहीन रस होता है, इस तरह किट्टि-करणाद्धा के चरमसमय पर्यन्त पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में की गई किट्टियों में अनन्तगुणहीन रस होता है।

इसका कारण यह है कि उत्तरोत्तर समय में परिणामों की निर्मलता होने से रस अल्प-अल्प होता जाता है और तथास्वभाव से अल्प रस वाले दलिक अधिक और अधिक रस वाले दलिक अल्प होते हैं। जिससे पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय के दलिकों का प्रमाण अधिक बताया है।

यहाँ तक तो पूर्व-पूर्व समय की किट्टियों के दलिकों और रस की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय की किट्टियों के दलिकों और रस का प्रमाण बतलाया। अब प्रत्येक समय होने वाली किट्टियों के दलिकों का एक दूसरे की अपेक्षा प्रमाण निर्देश करते हैं—

प्रत्येक समय में जो किट्टियां होती हैं, उनमें से जघन्यरस वाली किट्टि पहली, उससे अनन्तगुणरस वाली दूसरी, उससे अनन्तगुण-

रस वाली तीसरी इस तरह सर्वोत्कृष्ट रस वाली अन्तिम इस प्रकार स्थापित करना चाहिये और उनमें दलिक विशेषहीन-विशेषहीन हैं। जैसे कि प्रथम किट्टि में अधिक दलिक, उससे अनन्तगुणाधिक रस वाली दूसरी किट्टि में विशेषहीन, उससे अनन्तगुणाधिक तीसरी किट्टि में विशेषहीन दलिक, इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट किट्टि पर्यन्त विशेषहीन दलिक समझना चाहिये तथा सभी समयों की किट्टियों की स्थापना जैसे पूर्व-पूर्व किट्टि के दलिक से उत्तरोत्तर किट्टि का दलिक विशेषहीन-विशेषहीन होता है, वैसे ही एक समय में हुई किट्टियों में भी जानना चाहिये। वह इस प्रकार—

पहले समय में की गई किट्टियों में जो अल्परस वाली किट्टि है, उसमें दलिक बहुत अधिक हैं, उससे अनन्तगुणाधिक रस वाली दूसरी किट्टि में दलिक विशेषहीन हैं, उससे अनन्तगुणाधिक रस वाली तीसरी किट्टि में दलिक विशेषहीन हैं। इस प्रकार उत्तर-उत्तर की अनन्तगुणाधिक रस वाली किट्टियों में विशेषहीन-विशेषहीन दलिक पहले समय की गई किट्टियों में जो सर्वोत्कृष्ट रस वाली किट्टि है, वहाँ तक जानना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक समय की किट्टियों के लिये भी समझना चाहिए। तथा—

आइमसमयकयाणं मंदाईणं रसो अणन्तगुणो।
सव्वुक्कस्सरसा वि हु उवरिमसमयस्सऽणंतंसे ॥७६॥

शब्दार्थ—**आइमसमयकयाणं**—प्रथम समय में की गई, **मन्दाईणं**—जघन्य, **रसो**—रस, **अणंतगुणो**—अनन्तगुण, **सव्वुक्कस्सरसा**—सर्वोत्कृष्ट रस, **वि**—भी, **उवरिमसमयस्सऽणंतंसे**—ऊपर के समय की अनन्तवें भाग।

गाथार्थ—प्रथम समय में की गई जघन्य रस वाली किट्टि से लेकर सर्वोत्कृष्ट रस वाली किट्टि पर्यन्त उत्तारोत्तर अनन्तगुण रस जानना चाहिये। ऊपर के समय की सर्वोत्कृष्ट रस वाली

किट्टि से नीचे के समय की जघन्य रस वाली किट्टि के अनन्तवें भाग प्रमाण है।

विशेषार्थ—जैसे पूर्व गाथा में एक समय की गई किट्टियों में दलिकों का प्रमाण बताया है, वैसे ही इस गाथा में रस का प्रमाण बतलाते हैं—

पहले समय में की गई किट्टियों में अत्यन्त मन्द रस वाली जो किट्टि है, वह दूसरी किट्टि की अपेक्षा अत्यन्त हीन रस वाली है। उससे दूसरी किट्टि अनन्तगुण रस वाली, उससे तीसरी किट्टि अनन्तगुण रस वाली है। इस प्रकार प्रथम समय में की गई किट्टियों में उत्तरोत्तर अनन्तगुण सर्वोत्कृष्ट रस वाली किट्टि पर्यन्त जानना चाहिये। इसको पहले समय में जो किट्टियां होती हैं, उनको क्रम से स्थापित करने पर स्पष्ट समझा जा सकता है। जघन्य रस वाली को पहले और चढ़ते-चढ़ते रस वाली को उत्तरोत्तर स्थापित करना चाहिये। इसी प्रकार से द्वितीय आदि समयों में की गई किट्टियों के सम्बन्ध में भी प्ररूपणा करना चाहिए।

किट्टियों के रस और प्रदेश का अल्पबहुत्व

अब पूर्व-पूर्व समय की जघन्य रस वाली किट्टि और उत्तर-उत्तर के समय की उत्कृष्ट रस वाली किट्टि के रस और प्रदेशों के अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं। रसविषयक अल्पबहुत्व इस प्रकार है—

पहले समय में की गई किट्टियों में जो अत्यन्त अल्परस वाली है वह उत्तर में कही जाने वाली की अपेक्षा अधिक रस वाली है, उससे द्वितीय समय में की गई किट्टियों में जो उत्कृष्टरस वाली किट्टि है, वह अनन्तगुणहीन रस वाली किट्टि है तथा दूसरे समय में की गई किट्टियों में जो अत्यन्त अल्परस वाली किट्टि है, उसकी अपेक्षा तीसरे समय में की गई किट्टियों में जो सर्वोत्कृष्ट रस वाली किट्टि है, वह अनन्तगुणहीन रस वाली किट्टि है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय की अल्प रस वाली किट्टि की अपेक्षा ही उत्तर-उत्तर के समय की उत्कृष्ट

रस वाली किट्टि अनन्तगुणहीन-अनन्तगुणहीन रस वाली जानना चाहिए।

अब प्रदेश का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—पहले समय में की गई किट्टियों में जो बहुत प्रदेश वाली किट्टि है, वह दूसरे समय की गई किट्टियों में की सर्वाल्प प्रदेश वाली किट्टि की अपेक्षा अल्पप्रदेश वाली है, उससे दूसरे समय की गई किट्टियों में की जो सर्वाल्पप्रदेश वाली किट्टि है, वह असंख्यातगुण प्रदेश वाली है, उससे तीसरे समय की गई किट्टियों में की जो सर्वाल्पप्रदेश वाली किट्टि है, वह असंख्यातगुण प्रदेश वाली है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व से उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्यगुण चरमसमयपर्यन्त कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अधिक-अधिक रस वाली किट्टियां अल्प-अल्प प्रदेश वाली होती हैं और अल्प-अल्प रस वाली किट्टियां अधिक-अधिक प्रदेश वाली होती हैं।

किट्टिकरणद्धाए तिसु आवलियासु समयहीणासु।
न पडिग्गहया दोण्हवि सट्ठाणे उवसमिज्जंति ॥८०॥

शब्दार्थ—**किट्टिकरणद्धाए**—किट्टिकरणाद्धा की, **तिसु**—तीन, **आवलियासु**—आवलिका, **समयहीणासु**—समयहीन, **न**—नहीं, **पडिग्गहया**—पतद्ग्रहता, **दोण्हवि**—दोनों ही, **सट्ठाणे**—स्वस्थान में, **उवसमिज्जंति**—उपशमित होते हैं।

गाथार्थ—किट्टिकरणाद्धा की समयन्यून तीन आवलिका शेष रहने पर संज्वलन लोभ पतद्ग्रह नहीं रहता है, अतएव उसके बाद दोनों लोभ स्वस्थान में उपशमित होते हैं।

विशेषार्थ—किट्टिकरणाद्धा का समय न्यून तीन आवलिका बाकी रहे तब (और नौवें गुणस्थान की समयन्यून दो आवलिका बाकी रहे तब) संज्वलनलोभ की पतद्ग्रहता नष्ट होती है, जिससे अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ के दलिक संज्वलन लोभ में संक्रमित नहीं होते हैं, किन्तु अन्य स्वरूप में हुए बिना अपने अपने स्थान में ही

यानि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण के स्वरूप में ही शान्त होते हैं—उपशमित होते हैं। किट्टिकरणाद्धा की दो आवलिका (और नौवें गुणस्थान की एक आवलिका) बाकी रहे तब बादर संज्वलन-लोभ का आगाल होना बन्द हो जाता है, मात्र उदीरणा ही होती है और वह उदीरणा भी एक आवलिका पर्यन्त होती है।

किट्टिकरणाद्धा के संख्याता भाग जायें तब संज्वलनलोभ का स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन तीन कर्म का दिवसपृथक्त्वप्रमाण तथा नाम, गोत्र और वेदनीय का बहुत से हजार वर्ष का स्थितिबंध होता है। उसके बाद किट्टिकरणाद्धा के चरम समय में संज्वलनलोभ का स्थितिबंध अन्तर्मुहूर्त का होता है। किन्तु किट्टिकरणाद्धा के संख्याता भाग जाने पर संज्वलनलोभ का जो अन्तर्मुहूर्त बंध हुआ था उससे यह अन्तर्मुहूर्त छोटा समझना चाहिए। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का एक रात्रि-दिवस और नाम, गोत्र, वेदनीय का कुछ कम दो वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है। आगालविच्छेद होने के बाद जो एक उदीरणावलिका रहती है, उसका जो चरम समय, वही किट्टिकरणाद्धा का तथा नौवें गुणस्थान का चरम समय है।

अब किट्टिकरणाद्धा के चरम समय में होने वाले कार्य का निर्देश करते हैं।

किट्टिकरणाद्धा के चरम समय में सम्भव कार्य

लोहस्स अणुवसंतं किट्टी उदयावली य पुव्वुत्तं।
बायरगुणेण समगं दोण्णिवि लोभा समुवसन्ता ॥८१॥

शब्दार्थ—**लोहस्स**—लोभ का, **अणुवसंतं**—अनुपशांत, **किट्टी**—किट्टियां, **उदयावली**—उदयावलिका, **य**—और, **पुव्वुत्तं**—पूर्वोक्त (समय न्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक) **बायरगुणेण**—बादर संपराय-

गुणस्थान के, **समगं**—साथ, **दोण्णिवि**—दोनों ही, **लोभा**—लोभ, **समुवसंता**—उपशांत होते हैं।

गाथार्थ—उस समय किट्टियां, उदयावलिका और समय न्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक ही अनुपशांत है। बादरसंपरायगुणस्थान के साथ दोनों लोभ शांत होते हैं।

विशेषार्थ—किट्टिकरणाद्धा के चरम समय में किट्टिकरणाद्धा काल में की गई द्वितीयस्थिति में रही हुई किट्टियां, समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक और उदयावलिका इतना ही संज्वलन लोभ अनुपशमित बाकी रहता है, शेष सब शांत होता है[1] तथा उसी चरम समय में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण लोभ संपूर्ण शांत होता है तथा अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान भी पूर्ण होता है एवं बादर संज्वलनलोभ के उदय-उदीरणा का विच्छेद होता है और दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है। तथा—

सेसद्धं तणुरागो तावइया किट्टिओ उ पढमठिई।
वज्जिय असंखभागं हिट्ठुवरिमुदीरए सेसा ॥८२॥

शब्दार्थ—**सेसद्धं**—शेष काल में, (किट्टिवेदनाद्धा काल में), **तणुरागो**—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान, **तावइया**—उतना ही, **किट्टिओ**—किट्टियों की, **उ**—और, **पढमठिई**—प्रथम स्थिति, **वज्जिय**—छोड़कर, **असंखभागं**—असंख्यातवें भाग, **हिट्ठुवरि**—नीचे-ऊपर की, **उदीरए**—उदीरणा, **सेसा**—शेष की।

---

१. अवशिष्ट उस उदयावलिका को दसवें गुणस्थान में सूक्ष्मकिट्टियों में स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित कर अनुभव करता है, समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक उतने ही काल में शांत होता है और किट्टियों में कितनी ही किट्टियों को भोगकर क्षय करता है, कितनी ही को शांत करता है।

गाथार्थ—शेष काल में (किट्टिवेदनाद्धा काल में) सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान होता है। सूक्ष्म किट्टियों की उतनी ही (दसवें गुणस्थान के काल जितनी) प्रथमस्थिति करता है तथा चरम-समय में की गई किट्टियों का नीचे का असंख्यातवाँ भाग और प्रथम समय में की गई किट्टियों का ऊपर का असंख्यातवाँ भाग छोड़कर शेष किट्टियों की उदीरणा करता है।

विशेषार्थ—लोभ की प्रथमस्थिति को अश्वकर्णकरणाद्धा, किट्टि-करणाद्धा और किट्टिवेदनाद्धा इस प्रकार तीन भागों में विभाजित करता है। उनमें के प्रथम दो भागप्रमाण प्रथमस्थिति का अनुभव नौवें गुणस्थान में करता है। उन दो भाग जितने काल में अपूर्वस्पर्धक और किट्टियां होती है और तीसरे किट्टिवेदनाद्धा विभाग में किट्टि-करणाद्धाकाल में की गई किट्टियों का वेदन करता है और उस समय सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान होता है। इस गुणस्थान में द्वितीयस्थिति में रही हुई किट्टियों में की कितनी ही किट्टियों को खींचकर उनकी अपने काल प्रमाण प्रथमस्थिति करता है। किट्टिकरणाद्धा काल की शेष रही उदयावलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा संक्रमित कर अनुभव करता है। दो समय न्यून दो आवलिका काल का बंधा हुआ दलिक जो अनुशमित शेष है, उसको इस गुणस्थान में उतने ही काल में उपशमित करता है।

सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के प्रथम समय में जो किट्टियां उदय में आती हैं उनमें की पहले और अन्तिम समय में की गई किट्टियों को छोड़कर प्रायः[1] उदय में आती हैं। प्रथमस्थिति में इस प्रकार से

---

१ यहाँ प्रायः शब्द देने का कारण यह प्रतीत होता है कि पहले समय में की गई किट्टियों का ऊपर का असंख्यातवाँ भाग यानि उत्कृष्ट रस वाली किट्टियों को छोड़कर और अन्तिम समय में की गई किट्टियों का नीचे का असंख्यातवाँ भाग यानि मन्दरस वाली किट्टियों को छोड़कर शेष को उदीरणा द्वारा खींचकर अनुभव करता है। अर्थात् उदय द्वारा नहीं परन्तु उदीरणा द्वारा पहले और अन्तिम समय की किट्टियां उदय में आती हैं।

स्थापित करता है कि पहले समय में जो किट्टियां उदय में आयें वे किट्टिकरणाद्धा काल में के पहले और अन्तिम समय में की गई किट्टियां न हों तथा चरम समय में की गई किट्टियों का निचला असंख्यातवां भाग और पहले समय की गई किट्टियों के ऊपर का असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष किट्टियों की उदीरणा करता है। पहले और अन्तिम समय की किट्टियां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के प्रथम समय में उदय को प्राप्त नहीं होती हैं किन्तु इस प्रकार से उदीरणा द्वारा उदय को प्राप्त होती हैं। तथा—

गेण्हन्तो य मुयन्तो असंखभागं तु चरिमसमयंमि।
उवसामिय बीयठिइं उवसंतं लभइ गुणठाणं ॥८३॥

शब्दार्थ—**गेण्हन्तो**—ग्रहण करता, **य**—और, **मुयन्तो**—छोड़ता हुआ, **असंखभाग**—असंख्यातवें भाग को, **तु**—और, **चरिमसमयंमि**—चरमसमय में, **उवसामिय**—उपशमित करता है, **बीयठिइं**—द्वितीयस्थिति को, **उवसंतं**—उपशान्तमोह, **लभइ**—प्राप्त करता है, **गुणठाणं**—गुणस्थान।

गाथार्थ—असंख्यातवें भाग को ग्रहण करता और छोड़ता हुआ चरमसमय पर्यन्त जाता है। चरम समय में द्वितीय स्थिति को उपशमित करके उपशान्तमोहगुणस्थान प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के दूसरे समय में उदय-प्राप्त किट्टियों के असंख्यातवें भाग को छोड़ता है। क्योंकि उसको किट्टियां उपशान्त हो जाती हैं,[1] जिससे उदय में नहीं आती हैं और

---

१ यहाँ उदयप्राप्त किट्टियों के असंख्यातवें भाग को उपशमित करता है, यह संकेत किया है। परन्तु प्रश्न है कि उदयप्राप्त किट्टियां कैसे उपशमित हों? क्योंकि उदयप्राप्त किट्टियां तो प्रथम समय की किट्टियां हैं। प्रथमस्थिति को तो उदय-उदीरणा द्वारा भोगता है यह बताया है तो यहाँ उपशम हो यह कैसे सम्भव है?

(शेष फुटनोट अगले पृष्ठ पर)

उसके साथ भोगने के लिये अपूर्व असंख्यातवें भाग को उदीरणाकरण द्वारा ग्रहण करता है। यानि दूसरे समय में उदयप्राप्त जितनी किट्टियां होती हैं, उनके असंख्यातवें भाग को उपशमित कर डालता है, जिससे उतनी किट्टियों का फलानुभव नहीं करता, परन्तु शेष किट्टियों का फलानुभव करता है।

इस प्रकार प्रत्येक समय उदयप्राप्त किट्टियों के असंख्यातवें भाग को छोड़ता और अपूर्व असंख्यातवें भाग को भोगने के लिए उदीरणाकरण द्वारा ग्रहण करता सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त जाता है तथा द्वितीयस्थिति में रहे हुए अनुपशान्त समस्त दलिकों को

(पृष्ठ १११ का शेष फुटनोट)

इसके उत्तर में यह सम्भावना हो सकती है कि दसवें गुणस्थान की विशुद्धि के माहात्म्य से प्रथमस्थिति की उदयप्राप्त किट्टियों के असंख्यातवें भाग को भी द्वितीयस्थितिगत किट्टियों के साथ उपशमित करता है। जैसे समुद्घात के माहात्म्य से पुण्य प्रकृति के रस को पाप रूप करके भोगता है। अथवा जो दसवें गुणस्थान के कालप्रमाण प्रथमस्थिति की, उसे तो भोगकर क्षय करता है परन्तु सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान में उदय आने योग्य जो किट्टियाँ दूसरी स्थिति में रही हुई हैं, उनके असंख्यातवें भाग को उपशमाता और अपूर्व असंख्यातवें भाग को उदीरणाकरण द्वारा ग्रहण कर अनुभव करता है। इस प्रकार प्रति समय करते हुए दसवें गुणस्थान के चरमसमय तक जाता है। यहाँ चरम समय तक उदीरणाकरण द्वारा किट्टियों को ग्रहण करना कहा है, परन्तु प्रथमस्थिति की एक आवलिका बाकी रहे और उदीरणा नहीं होती यह नहीं कहा है, जिससे ऐसा मालूम होता है कि किट्टिकरणाद्धा काल में दसवें गुणस्थान में अनुभव करने योग्य जो किट्टियाँ की हैं उनमें से ऊपर कहे अनुसार उपशमाना, उनको उदीरणाकरण द्वारा खींचकर अनुभव करना, इस प्रकार किया करता चरम समय पर्यन्त जाता है। तत्व केवलीगम्य है।

भी सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के प्रथमसमय से लेकर चरमसमय पर्यन्त पूर्व पूर्व समय से उत्तर-उत्तर समय में असंख्य-असंख्यगुण उपशमित करता है तथा नौवें गुणस्थान के चरमसमय में समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ दलिक जो अनुपशान्त था, उसे भी उस समय से लेकर उतने ही काल में दसवें गुणस्थान में उपशमित करता है।

सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान के चरमसमय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का अन्तर्मुहूर्त का, नाम और गोत्र कर्म का सोलह मुहूर्त का और वेदनीय का चौबीस मुहूर्त का स्थितिबंध होता है। उसी चरमसमय में द्वितीयस्थितिगत मोहनीयकर्म का समस्त दलिक पूर्णतया उपशमित हो जाता है और आगे के समय में उपशान्तमोहगुणस्थान प्राप्त करता है। इस गुणस्थान में मोहनीय की अट्ठाईसप्रकृतियां सर्वथा शान्त होती हैं। उपशम का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है और यही उपशान्तमोहगुणस्थान है।

उपशान्तमोहगुणस्थान का स्वरूप

अन्तोमुहुत्तमेत्तं तस्सवि संखेज्जभागतुल्लाओ।
गुणसेढी सव्वद्धं तुल्ला य पएसकालेहिं ॥८४॥

शब्दार्थ—अन्तोमुहुत्तमेत्तं—अन्तर्मुहूर्त मात्र, तस्सवि—उसके भी, संखेज्जभाग तुल्लाओ—संख्यातवें भाग के बराबर, गुणसेढी—गुणश्रेणि, सव्वद्धं—सम्पूर्ण काल, तुल्ला—बराबर, य—और, पएसकालेहिं—प्रदेश और काल से।

गाथार्थ—यह गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त मात्र रहता है। उसके भी संख्यातवें भाग प्रमाण गुणश्रेणि होती है और वह उसके सम्पूर्ण कालपर्यन्त काल एवं प्रदेश से अवस्थित होती है।

विशेषार्थ—उपशान्तमोहगुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म के अलावा शेष कर्मों में स्थितिघात, रसघात

और गुणश्रेणि ये तीन पदार्थ होते हैं। उनमें से गुणश्रेणि उपशांत-मोहगुणस्थान के काल के संख्यातवें भाग प्रमाण करता है, यानि उपशांतमोहगुणस्थान के संख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने समयों में गुणश्रेणि—दलरचना करता है और वह गुणश्रेणि प्रदेश एवं काल से समान है।

इस गुणस्थान में प्रत्येक समय के परिणाम एक सरीखे प्रति समय एक जैसे ही दलिक ऊपर की स्थिति में से उतरते हैं और सदृश ही रचना होती है। यानि उपशांतमोहगुणस्थान के पहले समय में जितने दलिक ऊपर से उतारे और प्रथमसमय से उस गुणस्थान के संख्यातवें भाग के समयों में जिस प्रकार से स्थापित किये, उतने ही दलिक दूसरे समय में उतारता है और उस (दूसरे) समय से उस गुणस्थान के संख्यातवें भाग में जितने समय होते हैं, उतने में ही उसी प्रकार से स्थापित करता है। इसी प्रकार चरमसमय पर्यन्त जानना चाहिए।

पूर्व-पूर्व समय जैसे-जैसे कम होता जाता है; वैसे-वैसे ऊपर का एक-एक समय मिलता जाने से उपशांतमोहगुणस्थान के संख्यातवें भाग के समय प्रमाण दलरचना का काल कायम रहता है। इसी कारण कहा है कि इस गुणस्थान में काल और प्रदेश की अपेक्षा गुणश्रेणि सरीखी करता है तथा स्थितिघात, रसघात पूर्व की तरह होता है किन्तु पतद्ग्रह के अभाव में गुणसंक्रम नहीं होता है। तथा—

करणाय नोवसंतं संकमणोवट्टणं तु दिट्ठितिगं।
मोत्तुण विलोमेणं परिवडई जा पमत्तोति ॥८५॥

शब्दार्थ—करणाय—करण के योग्य, नोवसंतं—उपशमित दलिक नहीं होता, संकमणोवट्टणं—संक्रमण और अपवर्तना, तु—किन्तु, दिट्ठितिगं—दृष्टित्रिक को, मोत्तुण—छोड़कर, विलोमेणं—विलोमक्रम से, परिवडई—गिरता है, जा—यावत्, पमत्तोत्ति—प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक।

गाथार्थ—दृष्टित्रिक को छोड़कर उपशमित दलिक करण के

योग्य नहीं होता है। दृष्टित्रिक में संक्रमण और अपवर्तना होती है। (इस गुणस्थान का काल पूर्ण होने पर) विलोमक्रम से यावत् प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक गिरता है।

विशेषार्थ—इस गुणस्थान में मोहनीयकर्म की एक-एक (प्रत्येक) प्रकृति उपशमित है, जिससे उसमें किसी भी करण की योग्यता नहीं रहती है। अर्थात् उन प्रकृतियों में संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, निधत्ति, निकाचना और उदीरणा करण प्रवर्तित नहीं होते एवं उनका उदय भी नहीं होता है। मात्र सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और मिथ्यात्वमोहनीय को छोड़कर। क्योंकि उन तीन में अपवर्तना और संक्रम होता है। सक्रम तो मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय में होता है और अपवर्तना तीनों में होती है। इस प्रकार जिसने क्रोध के उदय से श्रेणि आरम्भ की हो उसकी अपेक्षा यह समझना चाहिये।

जब मान के उदय से श्रेणि प्राप्त करे तब मान का अनुभव करता हुआ नपुंसकवेद में कहे गये क्रम से तीनों क्रोध को उपशमित करता है। तत्पश्चात् क्रोध के उदय में श्रेणि का आरम्भ करने वाले ने जिस क्रम से तीन क्रोध उपशमित किये थे, उसी क्रम से तीन मान को उपशमित करता है।

जब माया के उदय में श्रेणिआरम्भ करे तब माया का वेदन करता पहले नपुंसकवेद के क्रम से तीन क्रोध, उसके बाद तीन मान उपशमित करता है और उसके बाद क्रोध के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला जिस क्रम से तीन क्रोध उपशमित करता है, उसी क्रम से तीन माया उपशमित करता है।

जब लोभ के उदय में श्रेणि आरम्भ करे तब लोभ का वेदन करता हुआ पहले नपुंसकवेद को शांत करते जो क्रम कहा है, उसी क्रम से तीन क्रोध को, उसके बाद तीन मान को, तत्पश्चात तीन माया को उपशमित करता है और उसके बाद क्रोध के उदय में श्रेणि

आरम्भ करने वाला जिस प्रकार से क्रोध को उपशमित करता है, उसी प्रकार से तीन लोभ को शांत करता है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि मान के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के संज्वलनक्रोध का बंधविच्छेद कहां होता है, यह नहीं बताया है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि क्रोध के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के जहां क्रोध का बंधविच्छेद होता है, वहीं मान के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले को भी क्रोध का बंधविच्छेद होता है और क्रोध के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले को जैसे उसका बंधविच्छेद होने के बाद दो समयन्यून दो आवलिका में बंधा हुआ अनुपशमित शेष रहता है, वैसे ही मान के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के भी क्रोध का बंधविच्छेद होने के बाद दो समयन्यून आवलिका काल का बंधा हुआ अनुपशांत रहता है और उसे उतने ही काल में मान को भोगता हुआ उपशमित करता है। इसी प्रकार माया के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले को क्रोध और मान के उदय के लिये समझना चाहिये। यानि माया के उदय में श्रेणि मांड़ने वाले के संज्वलन क्रोध का बंधविच्छेद होने बाद जो समयन्यून दो आवलिका काल का बंधा हुआ अनुपशांत है उसे उतने ही काल में मान को उपशांत करते हुए साथ ही उपशमित करता है और मान का बंधविच्छेद होने के बाद जो दो समयन्यून दो आवलिका काल का बधा हुआ मान का दलिक अनुपशांत है, उसे उतने ही काल में माया को वेदन करते हुए उपशमित करता है। इसी प्रकार लोभ के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला क्रोध के अवशिष्ट को मान के साथ, मान के अवशिष्ट को माया के साथ उपशमित करता है और माया के अवशिष्ट को लोभ का वेदन करने के साथ उपशमित करता है। विद्वानों से विशेष स्पष्टीकरण की अपेक्षा है।

मोहनीय शांत किया हुआ होने से इस गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ा जाता है, किन्तु यहाँ अन्तर्मुहूर्त रहकर अवश्य पतन होता है। पतन का क्रम इस प्रकार है—

उपशांतमोहगुणस्थान से प्रतिपतन दो प्रकार से होता है—१ भवक्षय और २ अद्धाक्षय—गुणस्थान का काल पूर्ण होने से। भवक्षय से प्रतिपात मरने वाले का होता है। यदि उपशांतमोहगुणस्थान में किसी की आयु पूर्ण होती है तो वह मरकर सर्वार्थसिद्ध महाविमान में उत्पन्न होता है। मनुष्यायु के चरमसमयपर्यंत ग्यारहवां गुणस्थान होता है, परन्तु देवायु के प्रथमसमय से ही चतुर्थ गुणस्थान प्राप्त होता है और उसे प्रथमसमय से ही एक साथ सभी करण प्रवर्तित होते हैं। उदीरणाकरण से जो दलिक खींचता है, उन्हें उदयावलिका में क्रमबद्ध स्थापित करता है। जिन दलिकों की उदीरणा नहीं करता परन्तु अपवर्तनाकरण से नीचे उतारता है, उनको उदयावलिका के बाहर गोपुच्छाकार से स्थापित करता है और जो अन्तरकरण था यानि शुद्ध भूमिका थी, उसे दलिकों से भर देता है और उन दलिकों का वेदन करता है। किन्तु जो उपशांतमोहगुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल पूर्ण कर पतन करता है, वह जिस क्रम से स्थितिघातादि करता हुआ चढ़ता था, उसी क्रम से पश्चानुपूर्वी से स्थितिघातादि करता प्रमत्तसंयत-गुणस्थान तक गिरता है।

यहाँ जो स्थितिघात आदि बतलाया है उसका आशय यह कि जैसे गुणस्थान पर प्रवर्धमान परिणाम की अत्यन्त विशुद्धि होने से अधिक-अधिक प्रमाण में स्थिति और रस का घात करता था, अधिक-अधिक दलिक उतार कर उदयसमय से लेकर अधिक-अधिक यथाक्रम स्थापित करता था और नवीन स्थितिबंध हीन-हीन करता जाता था। किन्तु अब गिरते समय परिणामों की मन्दता होने से अल्प प्रमाण में स्थिति और रस का घात करता है, स्थितिबंध बढ़ाता जाता है और गुणश्रेणि विलोम करता है। अर्थात् निषेकरचना के अनुसार दलरचना करता है, जिससे उदयसमय में अधिक, उसके बाद अल्प-अल्प, इस प्रकार दलरचना करता है। जिसकी विधि इस प्रकार है—

ओकड्डित्ता दलियं पढमठितिं कुणइ विइयठिइहितो ।
उदयाइ विसेसूणं आवलिउप्पिं असंखगुणं ॥८६॥
जावइया गुणसेढी उदयवई तासु हीणगं परओ ।
उदयावलीमकाउं गुणसेढिं कुणइ इयराणं ॥८७॥

शब्दार्थ—**ओकड्डित्ता**—अपकर्षितकर—खींचकर, **दलियं**—दलिक, **पढमठितिं**—प्रथमस्थिति, **कुणइ**—करता है, **विइयठिइहितो**—द्वितीयस्थिति में से, **उदयाइ**—उदयसमय से लेकर, **विसेसूणं**—विशेष न्यून-न्यून, **आवलिउप्पिं**—आवलिका के ऊपर, **असंखगुणं**—असंख्यातगुण ।

जावइया—जितनी, **गुणसेढी**—गुणश्रेणि, **उदयवई**—उदयवती प्रकृतियों, **तासु**—उनमें, **हीणगं**—हीन-न्यून-न्यून, **परओ**—बाद में, **उदयावलीमकाउं**—उदयावलिका किये बिना, **गुणसेढिं**—गुणश्रेणि, **कुणइ**—करता है, **इयराणं**—इतर-अनुदयवती प्रकृतियों की ।

गाथार्थ—द्वितीयस्थिति में से दलिक खींचकर प्रथमस्थिति करता है । उदयसमय से लेकर विशेष न्यून-न्यून और आवलिका के ऊपर असंख्यातगुण स्थापित करता है ।

उदयवती प्रकृतियों में गुणश्रेणि शीर्ष पर्यन्त गुणश्रेणि के क्रम से निक्षेप करता है । बाद के समयों में न्यून-न्यून करता है । इतर-अनुदयवती प्रकृतियों में उदयावलिका किये बिना ऊपर के समयों से गुणश्रेणिक्रम से गुणश्रेणि पर्यन्त दलरचना करता है ।

विशेषार्थ—उपशांतमोहगुणस्थान से गुणस्थान का काल पूर्ण कर गिरते हुए संज्वलनलोभ आदि कर्मों का अनुभव करता है । ग्यारहवें से दसवें गुणस्थान में आने पर पहले संज्वलनलोभ का अनुभव करता है उसके बाद नौवें गुणस्थान में जहाँ माया का विच्छेद हुआ था, वहाँ से लेकर माया का, तत्पश्चात् जहाँ मान का उदयविच्छेद हुआ था, वहाँ

से लेकर मान का, उसके बाद जहाँ क्रोध का उदयविच्छेद हुआ था, वहाँ से लेकर क्रोध का अनुभव करता है।

इस प्रकार चढ़ते हुए जिस समय जिसका उदयविच्छेद हुआ था, गिरते हुए वहाँ आने पर उसका उदय होता है। इस प्रकार से क्रमपूर्वक अनुभव करने के लिये द्वितीयस्थिति में से उनके दलिक खींचकर प्रथमस्थिति करता है। खींचे गये दलिकों को उदयसमयादि समयों में विशेष न्यून-न्यून क्रम से स्थापित करता है। उदयसमय में अधिक दलिक स्थापित करता है, द्वितीयसमय में विशेष हीन, इस प्रकार उदयावलिका के चरमसमयपर्यन्त गोपुच्छाकार में दलिक स्थापित करता है और उदयावलिका के ऊपर के समयों में असंख्यात-असंख्यातगुण स्थापित करता है। उदयावलिका के ऊपर प्रथमसमय में उदयावलिका के चरमसमय के दलिक निक्षेप की अपेक्षा असंख्यातगुण, उससे दूसरे समय में असंख्यातगुण, उससे तीसरे समय में असंख्यातगुण, इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-असंख्यातगुण दलिक उदयवती प्रकृतियों में गुणश्रेणिशीर्षपर्यन्त स्थापित करता है—तत्पश्चात विशेषहीन-विशेषहीन स्थापित करता है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि तत्काल उदयवती प्रकृतियों की उदयावलिका में गोपुच्छाकार रूप में दलिकनिक्षेप करता है—स्थापित करता है और उदयावलिका के ऊपर के समय से लेकर गुणश्रेणि के शीर्षपर्यन्त तो गुणश्रेणि के क्रम से पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्यगुण दलिक और उसके बाद के समयों में विशेषन्यून-विशेषन्यून दलिक निक्षेप करता है और तत्काल अनुदयवती जो प्रकृतियां हैं, उनकी उदयावलिका नहीं करता है—उदयावलिका में दलिक स्थापित नहीं करता है, परन्तु उस एक आवलिका को छोड़कर ऊपर के समय से लेकर गुणश्रेणि के शीर्षपर्यन्त पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्यगुण स्थापित करता है और उसके बाद अल्प-अल्प स्थापित करता है। तथा—

संकमउदीरणाणं नत्थि विसेसो उ एत्थ पुव्वुत्तो ।
जं जत्थ उ विच्छिन्नं जायं वा होइ तं तत्थ ॥८८॥

शब्दार्थ—**संकमउदीरणाणं**—संक्रम और उदीरणा के, **नत्थि**—नहीं है, **विसेसो**—विशेष, **उ**—किन्तु, **एत्थ**—यहाँ, **पुव्वुत्तो**—पूर्व में कहे, **जं**—जिसका, **जत्थ**—जहाँ, **उ**—ही, **विच्छिन्नं**—विच्छेद, **जायं**—हुआ था, **वा**—तथा, **होइ**—होता है, **तं**—वह, **तत्थ**—वहाँ ।

गाथार्थ—पूर्व में कहे गये संक्रम और उदीरणा के सम्बन्ध में यहाँ विशेष नहीं है । जिसका जहाँ विच्छेद हुआ था तथा जो जहाँ होता था वहाँ वह होता है ।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणि पर चढ़ते संक्रम और उदीरणा के सम्बन्ध में जो विशेष कहा था, कि क्रमपूर्वक संक्रम होता है किन्तु अनानुपूर्वी से—उत्क्रम से संक्रम नहीं होता है, तथा अन्तरकरण के द्वितीयसमय से बंधे हुए कर्म की छह आवलिका जाने के बाद उदीरणा होती है, छह आवलिका में नहीं होती है ऐसा उदीरणा के सम्बन्ध में विशेष कहा था, वह विशेष उपशमश्रेणि से गिरते नहीं रहता है । उपशम श्रेणी से गिरते तो क्रमउत्क्रम दोनों प्रकार से संक्रम होता है, तथा बंधे हुए कर्म की बंधावलिका पूर्ण होने के बाद भी उदीरणा होती है तथा श्रेणि पर चढ़ते बंधन, संक्रमण, अपवर्तना, उद्वर्तना, उदीरणा, देशोपशमना, निधत्ति, निकाचना और आगाल का जिस समय विच्छेद हुआ था, गिरते उस समय के प्राप्त होने पर वे सब होते हैं तथा चढ़ते समय जिस स्थान पर स्थितिघात, रसघात आदि होते थे, गिरते समय वे उसी प्रकार विपरीत क्रम से होते हैं । तथा—

वेइज्जमाण संजलण कालाओ अहिगमोहगुणसेढी ।
पडिवत्तिकसाउदए तुल्ला सेसेहि कम्मेहिं ॥८९॥

शब्दार्थ—**वेइज्जमाण**—वेद्यमान, **संजलण**—संज्वलन, **कालाओ**—

काल से, **अहिग**—अधिक, **मोहगुणसेढी**—मोहनीय की गुणश्रेणि, **पडिवत्ति**—प्राप्ति, **कसाउदए**—कषाय के उदय में, **तुल्ला**—तुल्य, **सेसेहि**—शेष, **कम्मेहिं**—कर्मों के।

गाथार्थ—मोहनीय की गुणश्रेणि वेद्यमान संज्वलन के काल से अधिक होती है। जिस-जिस कषाय के उदय में श्रेणि की प्राप्ति होती है, उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मों के तुल्य होती है।

विशेषार्थ—श्रेणि से गिरते मोहनीय कर्म की प्रकृतियों की गुणश्रेणि काल की अपेक्षा वेद्यमान संज्वलन के काल से अधिक काल प्रमाण करता है। चढ़ते समय की गई गुणश्रेणि के तुल्य करता है। अर्थात् श्रेणि पर चढ़ते समय जितने स्थानों में गुणश्रेणि के क्रम से दलरचना हुई थी, गिरते समय भी उतने स्थानों में दलरचना होती है तथा जिस कषाय के उदय में उपशमश्रेणि पर आरूढ़ हुआ था—श्रेणि पर चढ़ा था, गिरते उसका जब उदय हो तब उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मों की गुणश्रेणि के तुल्य होती है। जैसे किसी ने संज्वलन क्रोध के उदय में श्रेणि प्राप्त की तो श्रेणि से गिरते जब उसे संज्वलनक्रोध का उदय हो तब वहाँ से उसकी गुणश्रेणि शेष कर्मों के समान होती है। इसी प्रकार मान और माया के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। परन्तु संज्वलनलोभ के उदय में उपशमश्रेणि प्राप्त करने वाले के प्रतिपात काल में गिरते ही प्रथमसमय से संज्वलनलोभ की गुणश्रेणि शेष कर्मों की गुणश्रेणि के तुल्य होती है तथा शेष कर्मों के लिये तो जैसे चढ़ते समय का कथन किया है, उसी प्रकार पड़ते भी हीनाधिकता रहित जानना चाहिये। तथा—

खवगुवसामगपच्चागयाण दुगुणो तहिं तहिं बंधो।
अणुभागोऽणंतगुणो असुभाण सुभाण विवरीओ ॥६०॥

शब्दार्थ—**खवगुवसामगपच्चागयाण**—क्षपक, उपशमक और पतित उपशमक को, **दुगुणो**—दुगुना, **तहिं तहिं**—वहाँ-वहाँ, **बंधो**—बन्ध, **अणुभागो-**

अणुभागो—अनुभाग अनन्त गुण, असुभाण—अशुभ प्रकृतियों का, सुभाण—शुभ प्रकृतियों का, विवरीओ—विपरीत (अनन्तगुणहीन)।

गाथार्थ—क्षपक, उपशमक और पतित उपशमक को वहाँ-वहाँ क्रमशः दुगुना स्थितिबंध होता है और अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग अनन्तगुण अधिक और शुभ प्रकृतियों का विपरीत (अनन्तगुणहीन) बंधता है।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणि[1] पर चढ़ते क्षपक को जिस-जिस स्थान पर जितना-जितना स्थितिबंध होता है, उससे भी उपशमश्रेणि पर चढ़ते उपशमक को उसी स्थान पर दुगुना-दुगुना स्थितिबंध होता है और उससे भी उपशमश्रेणि से गिरते हुए के उसी स्थान पर दुगना-दुगना बंध होता है। अर्थात् क्षपक के बंध की अपेक्षा चार गुना स्थितिबंध होता है। तथा—

क्षपक को जिस स्थान पर अशुभ प्रकृतियों का जितना रसबंध होता है, उसकी अपेक्षा उसी स्थान पर उपशमक को अनन्तगुण अनुभाग—रसबंध होता है। उससे भी उसी स्थान पर उपशमश्रेणि से गिरते हुए के अनन्तगुण रसबंध होता है किन्तु शुभ प्रकृतियों का रसबध अशुभ प्रकृतियों के रसबंध से विपरीत होता है। अर्थात् शुभ प्रकृतियों का क्षपक के जिस स्थान पर जितना रसबंध होता है, उससे उपशमक को श्रेणि पर चढ़ते उसी स्थान पर अनन्तगुणहीन रसबंध होता है और उससे भी उपशमश्रेणि से गिरने वाले के उसी स्थान पर अनन्तगुणहीन रसबंध होता है तथा—

परिवाडीए पडिउं पमत्तइयरत्तणे बहू किच्चा।
देसजई सम्मो वा सासणभावं वए कोई ॥६१॥

शब्दार्थ—**परिवाडीए**—क्रमपूर्वक, **पडिउं**—गिरकर, **पमत्तइयरत्तणे**—प्रमत्त और इतर अप्रमत्तपने, **बहू**—अनेक बार, **किच्चा**—करके, **देसजई**—

---

१. क्षपकश्रेणि का स्वरूप छठे कर्मग्रन्थ (सप्ततिका) में देखिये।

देशविरति, **सम्मो**—अविरतसम्यक्त्व, **वा**—अथवा, **सासणभावं**—सासादनभाव को, **वए**—प्राप्त करता है, **कोई**—कोई।

गाथार्थ—प्रमत्तगुणस्थान तक तो क्रमपूर्वक पड़ता है। फिर अनेक बार प्रमत्त और अप्रमत्तपने में परावर्तन करके कोई देशविरति होता है, कोई सासादनभाव को प्राप्त करता है।

विशेषार्थ—जिस क्रम से उपशमश्रेणि पर चढ़ा था, यानि चढ़ते हुए जिस क्रम से जिस-जिस गुणस्थान का स्पर्श किया था, गिरते उसी क्रम से उस-उस गुणस्थान का स्पर्श करता प्रमत्तसंयतगुणस्थान तक आता है, अर्थात् दसवां, नौवां इत्यादि इस विलोम क्रम से गुणस्थान स्पर्श करता आता है। तत्पश्चात् प्रमत्त और अप्रमत्त संयत इन दोनों गुणस्थानों में अनेक बार परावर्तन करके कोई देशविरति होता है, कोई अविरतसम्यग्दृष्टि होता है और जिनके मत से अनन्तानुबंधिकषाय की उपशमना होती है, उनके मतानुसार कोई सासादनगुणस्थान को भी प्राप्त होता है और वहां से गिरकर मिथ्यात्व में जाता है।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में परावर्तन कर यदि कोई तद्भवमोक्षगामी जीव हो तो क्षपकश्रेणि मांड़ सकता है एवं कोई उपशम श्रेणि भी मांड़ सकता है, तथा कोई चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर वहाँ स्थिर भी हो सकता है। तथा—

उवसमसम्मत्तद्धा अंतो आउक्खया धुवं देवो।
जेण तिसु आउएसुं बद्धेसु न सेढिमारुहई ॥९२॥

शब्दार्थ—**उवसमसम्मत्तद्धाअंतो**—उपशमसम्यक्त्वकाल में, **आउक्खया**—आयुक्षय होने पर, **धुवं**—अवश्य, **देवो**—देव, **जेण**—जिसने, **तिसु**—तीन, **आउएसुं**—आयु में से, **बद्धेसु**—बांधा हो, **न**—नहीं, **सेढिमारुहई**—श्रेणि पर आरोहण करता है।

गाथार्थ—उपशमसम्यक्त्व के काल में आयु क्षय होने पर अवश्य देव होता है। किन्तु जिसने तीन आयु में से किसी एक आयु को बांधा हो वह श्रेणि पर आरोहण नहीं करता है।

विशेषार्थ—उपशमसम्यक्त्व के काल में रहते जो कोई आयु पूर्ण हो जाने से काल करे तो अवश्य देव होता है। क्योंकि नारक, तिर्यंच और मनुष्य सम्बन्धी आयु का बंध किया हो तो उपशमश्रेणि पर चढ़ नहीं सकता है, परन्तु वैमानिक देव सम्बन्धी आयु बांधी हो तभी उपशमश्रेणि पर चढ़ सकता है तथा उपशमसम्यक्त्व के काल में मरण को प्राप्त हो तो देव ही होता है। तथा—

सेढिपडिओ तम्हा छडावलि सासणो वि देवेसु।
एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा ॥६३॥

शब्दार्थ—**सेढिपडिओ**—श्रेणि से पतित, **तम्हा**—उस कारण से, **छडावलि**—छह आवलिका, **सासणो**—सासादनगुणस्थान वाला, **वि**—भी, **देवेसु**—देव में, **एगभवे**—एक भव से, **दुक्खुत्तो**—दो बार, **चरित्तमोहं**—चारित्रमोह को, **उवसमेज्जा**—उपशमित कर सकता है।

गाथार्थ—उस कारण से श्रेणि से पतित जिसका छह आवलिका काल है वह सासादनगुणस्थान वाला भी मरण कर देव हो सकता है। एक भव में दो बार चारित्रमोह को सर्वथा उपशमित कर सकता है।

विशेषार्थ—देवायु को छोड़कर शेष तीन आयु में से किसी भी आयु को बांधने के बाद उपशमश्रेणि पर चढ़ नहीं सकता है, इसलिए श्रेणि से गिरकर उत्कृष्ट छह आवलिका और जघन्य एक समय जितना जिसका काल है, उस सासादनगुणस्थान में भी काल करे तो मरकर अवश्य देव होता है। तात्पर्य यह है कि आयु के बांधने के बाद यदि उपशमश्रेणि पर चढ़े तो वैमानिक देव की आयु बांधने के बाद

ही चढ़ता है, परभवायु बांधे बिना भी उपशमश्रेणि पर चढ़ सकता है, वह अन्तरकरण पूर्ण होने के बाद आयु बांध सकता है। तथा—

एक भव में अधिक-से-अधिक दो बार ही चारित्रमोहनीयकर्म को सर्वथा उपशमित करता है। जो जीव एक भव में दो बार उपशम-श्रेणि मांड़ता है, वह उस भव में क्षपकश्रेणि नहीं मांड़ सकता है, चारित्रमोहनीय की क्षपणा नहीं कर सकता है। परन्तु जिसने एक जन्म में एक बार चारित्रमोहनीय की उपशमना की हो, उसको उस भव में क्षपकश्रेणि हो भी सकती है—कदाचित् चारित्रमोहनीय की क्षपणा हो भी सकती है। परन्तु इससे यह आशय ग्रहण नहीं करना चाहिये कि चारित्रमोहनीय की क्षपणा करने से पहले चारित्र-मोहनीय की उपशमना जरूरी है। चारित्रमोहनीय की उपशमना किये बिना भी चारित्रमोहनीय की क्षपणा कर सकता है तथा एक जन्म में उपशम और क्षपक इस तरह दोनों श्रेणियां चढ़ सकता है। यह कार्मग्रन्थिक अभिप्राय है। किन्तु आगमिक अभिप्रायानुसार तो एक भव में उपशम और क्षपक इन दोनों में से एक ही श्रेणि पर चढ़ सकता है। कहा भी है—

अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेणं च सव्वाइं।

दोनों में से एक श्रेणि के सिवाय एक भव में देशविरति, सर्व-विरति चारित्र आदि सभी प्राप्त कर सकते हैं। तथा—

'मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्ततः।
यस्मिन्भवे तूपशमः क्षयोमोहस्य तत्र न॥'

एक भव में मोह का उपशम दो बार हो सकता है। परन्तु जिस भव में मोह का सर्वोपशम हुआ हो उस भव में मोह का सर्वथा क्षय नहीं होता है।

इस प्रकार पुरुषवेद से श्रेणि प्राप्त करने वाले की अपेक्षा विधि

है। अब स्त्रीवेद और नपुंसकवेद से उपशमश्रेणि प्राप्त करने वाले की अपेक्षा विधि प्रक्रिया बतलाते हैं।

स्त्री-नपुंसकवेदापेक्षा उपशमश्रेणि विधि:

दुचरिमसमये नियगोदयस्स इत्थीनपुंसगोण्णोण्णं ।
समयित्तु सत्त पच्छा किन्तु नपुंसो कमारद्धे ॥६४॥

शब्दार्थ—दुचरिमसमये—द्विचरम समय में, नियगोदयस्स—अपने उदय के, इत्थीनपुंसगो—स्त्री और नपुंसक वेद, ण्णोण्ण—अन्योन्य—एक दूसरे को, समयित्तु—उपशम करके, सत्त—सात प्रकृतियों को, पच्छा—पश्चात्, किन्तु—लेकिन, नपुंसो—नपुंसकवेद, कमारद्धे—क्रम प्रारम्भ करने पर।

गाथार्थ—स्त्री और नपुंसक अपने उदय के द्विचरम समय में अन्योन्य वेद को उपशमित करता है, तत्पश्चात् सात प्रकृतियों को उपशमित करता है परन्तु नपुंसकवेद से श्रेणि क्रम आरम्भ करने पर पहले नपुंसकवेद को और कुछ समय बाद स्त्रीवेद को उपशमित करना प्रारम्भ करता है।

विशेषार्थ—अभी तक यह बताया है कि पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला किस क्रम से चारित्रमोहनीय की प्रकृतियों को उपशमित करता है। अब स्त्री या नपुंसकवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाला किस क्रम से उपशमित करता है, यह स्पष्ट करते हैं—

जब स्त्रीवेद के उदय में कोई उपशमश्रेणि प्राप्त करता है तब पहले नपुंसकवेद को उपशमित करता है। उसके बाद स्त्रीवेद अपने उदय के द्विचरम समय पर्यन्त उपशमित करता है। अपने उदय के द्विचरम समय में अन्तिम एक उदयसमय को छोड़कर स्त्रीवेद का समस्त दलिक शांत हो जाता है। उस एक अंतिम उदयस्थिति को भोग लेने के बाद अवेदक होकर हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सातों प्रकृतियों को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है और शेष कथन

पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के समान समझना चाहिए।

स्त्रीवेद का पुरुषवेद के उदय में श्रेणि स्वीकार करने वाला जिस स्थान में नपुंसकवेद को उपशमित करता है, उस स्थान पर्यन्त नपुंसकवेद के उदय में श्रेणि मांड़ने वाला नपुंसकवेद को ही उपशमित करने की क्रिया करता है। उसके बाद नपुंसकवेद और स्त्रीवेद इन दोनों को एक साथ उपशमित करता है। इस प्रकार नपुंसकवेदोदय के द्विचरमसमयपर्यन्त दोनों को उपशमित करता है। उस द्विचरम समय में स्त्रीवेद सर्वथा उपशमित हो जाता है और नपुंसकवेद की एक उदयस्थिति शेष रहती है। वह एक उदयस्थिति भी भोगी जाने के पश्चात् हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात को एक साथ उपशमित करना प्रारम्भ करता है और इसके बाद का क्रम पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के समान समझना चाहिये।[1]

इस प्रकार से मोहनीयकर्म के सर्वोपशम का स्वरूप जानना चाहिये।[2] अब देशोपशमना का प्रतिपादन करते हैं।

---

१. पुरुषवेद का बंधविच्छेद कहाँ होता है और बंधविच्छेद होने के बाद जैसे समयोन दो आवलिका में बंधा हुआ अनुपशांत रहता है, वह यहाँ रहता है या नहीं, यह नहीं कहा है। परन्तु शेष कथन पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले की तरह समझना चाहिये, कहा है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि पुरुषवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के जहाँ उसका बंधविच्छेद होता है, वहीं स्त्रीवेद या नपुंसकवेद के उदय में श्रेणि आरम्भ करने वाले के भी पुरुषवेद का बंधविच्छेद होता है और बंधविच्छेद के समय समयोन दो आवलिका में बंधा हुआ जो अनुपशांत रहता है, उसे उतने ही समय में उपशमित करता है।

२ क्रोधादि कषायोदय और अन्यतर वेदोदय में श्रेणि प्रारम्भक का विवरण परिशिष्ट में देखिये।

देशोपशमना का स्वरूप, स्वामी

मूलुत्तरकम्माणं पगडिट्ठितिमादि होइ चउभेया ।
देसकरणेहिं देसं समइ जं देससमणा तो ॥६५॥

उवट्टण ओवट्टण संकमकरणाइं होंति नण्णाइ ।
देसोवसामियस्सा जा पुव्वो सव्वकम्माणं ॥६६॥

शब्दार्थ—मूलुत्तरकम्माणं—मूल और उत्तर कर्मप्रकृतियों के, **पगडिट्ठितिमादि**—प्रकृति, स्थिति आदि, **होइ**—होते हैं, **चउभेया**—चार भेद, **देसकरणेहिं**—देशकरणों से, **देसं**—एकदेश, **समइ**—शमित करता है, **जं**—क्योंकि, **देससमणा**—देशोपशमना, **तो**—अतः ।

उवट्टण—उद्वर्तना, **ओवट्टण**—अपवर्तना, **संकमकरणाइं**—संक्रमकरण, **होंति**—होते हैं, **नण्णाइं**—अन्य नहीं, **देसोवसामियस्सा**—देशोपशमना के स्वामी, **जा पुव्वो**—अपूर्वकरणगुणस्थान तक, **सव्वकम्माणं**—सभी कर्मों के ।

गाथार्थ—मूल और उत्तर प्रकृतियों के प्रकृति, स्थिति आदि चार भेद होते हैं । देशकरणों से उनके एक देश को शमित करता है, अतः देशोपशमना कहते हैं ।

देशोपशमना द्वारा शमित दलिक में उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रम ये तीन करण होते हैं, शेष नहीं होते हैं । अपूर्वकरणगुणस्थान तक के जीव सभी कर्मों की देशोपशमना के स्वामी हैं ।

विशेषार्थ—सर्वोपशमना का विस्तार से स्वरूप निर्देश करने के पश्चात् अब देशोपशमना का विचार प्रारम्भ करते हैं—

देशोपशमना इस नामकरण का कारण यह है कि करण के एकदेश—यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण इन दोनों करणों के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग (रस) और प्रदेश के अमुक भाग को उपशमित करना, किन्तु सर्वोपशमना की तरह सम्पूर्ण भाग को उपशमित नहीं करना देशोपशमना कहलाती है । देशोपशमना द्वारा उपशमित दलिकों में

मात्र संक्रम, उद्वर्तना, अपवर्तना यही तीन करण लागू होते हैं। देशोपशमना मूलकर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियों की होती है तथा उनके जो प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश ये चार भेद हैं, उन प्रत्येक की होती है। जिससे मूलप्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस प्रकार देशोपशमना के दो भेद हैं और वे दोनों भी प्रत्येक प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के भेद से चार-चार प्रकार के हैं। इस प्रकार देशोपशमना के आठ भेद होते हैं।

यह देशोपशमना सर्वोपशमना की तरह केवल मोहनीयकर्म की ही नहीं, किन्तु सभी—आठों कर्मों की होती है।

इस देशोपशमना द्वारा मूल अथवा उत्तर प्रकृतियों को उपशमित करने के स्वामी सामान्य से अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त वर्तमान प्रत्येक जीव हैं। यानि सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी-संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच, देव, नारक और मनुष्य देशोपशमना के स्वामी हैं। उनमें से मनुष्य तो अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमय तक वर्तमान स्वामी हैं। क्योंकि मनुष्यों को ही आठवां अपूर्वकरणगुणस्थान होता है और दूसरे जीव अपने-अपने गुणस्थान पर्यन्त ही देशोपशमना के स्वामी हैं।

लेकिन इस स्वामित्व के विषय में भी जो विशेष है, अब उसको स्पष्ट करते हैं।

देशोपशमना स्वामित्व विषयक विशेष

खवगो उवसमगो वा पढमकसायाण दंसणतिगस्स।
देसोवसामगो सो अपुव्वकरणंतगो जाव ॥९७॥

शब्दार्थ—**खवगो**—क्षपक, **उवसमगो**—उपशमक, **वा**—अथवा, **पढमकसायाण**—प्रथम कषाय के, **दंसणतिगस्स**—दर्शनमोहत्रिक, **देसोवसामगो**—देशोपशमक, **सो**—वह, **अपुव्वकरणंतगो**—अपूर्वकरण के चरमसमय, **जाव**—तक पर्यन्त।

गाथार्थ—तीन करण करते हुए अपने अपूर्वकरण के चरम-समय तक के क्षपक अथवा उपशमक प्रथम कषाय और दर्शन मोहत्रिक के देशोपशमक (देशोपशमना के स्वामी) हैं।

विशेषार्थ—सामान्य से तो सभी कर्मों की देशोपशमना अपूर्वकरण-गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही होती है, परन्तु जिस गुणस्थान में प्रथम कषाय - अनन्तानुबंधि की विसंयोजना अथवा उपशमना करने एवं मिथ्यात्व और दर्शनमोहत्रिक की उपशमना और क्षपणा करने के लिये तीन करण करता है, उनमें अपूर्वकरण तक ही उन-उन प्रकृतियों की देशोपशमना होती है। जैसे—अनादि मिथ्यादृष्टि चारों गति के संज्ञी पर्याप्त उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये मिथ्यात्वमोहनीय को उपशमित करने मिथ्यात्वगुणस्थान में तीन करण करता है, उसमें मिथ्यात्वमोहनीय की देशोपशमना अपूर्वकरण के चरम-समय पर्यन्त ही होती है।

अनन्तानुबंधि कषायों की विसंयोजना करने के लिये चारों गति के संज्ञी पर्याप्त स्व-स्व प्रायोग्य चौथे से सातवें गुणस्थान में रहते तीन करण करते हैं। अनन्तानुबंधि कषायों की उपशमना करने के लिये सर्वविरति मनुष्य ही तीन करण करते हैं और उनकी देशोपशमना उन तीन करणों में से अपूर्वकरण के चरमसमयपर्यन्त ही होती है।

दर्शनमोहत्रिक की क्षपणा के लिये चौथे से सातवें गुणस्थान तक प्रथमसंहनन—वज्रऋषभनाराच संहनन वाला तीन करण करता है और उसकी उपशमना के लिये सर्वविरत मनुष्य ही तीन करण करते हैं। उनमें के अपूर्वकरण तक ही उसकी देशोपशमना होती है और अन्य कर्मों की देशोपशमना तो अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमय पर्यन्त होती है।

इस प्रकार से देशोपशमना के स्वरूप और स्वामित्व का विचार करने के पश्चात् अब साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

सादि-अनादि प्ररूपणा

साइयमाइचउद्धा देसुवसमणा अणाइसंतीणं ।
मूलुत्तरपगईणं साइ अधुवा उ अधुवाओ ॥९८॥

शब्दार्थ—साइयमाइचउद्धा—सादि आदि चार प्रकार की है, देसुवसमणा—देशोपशमना, अणाइसंतीणं—अनादिसत्ता वालों, मूलुत्तरपगईणं—मूल और उत्तर प्रकृतियों की, साइ—सादि, अधुवा—अध्रुव, उ—और, अधुवाओ—अध्रुवसत्ता वाली ।

गाथार्थ—अनादिसत्ता वाली मूल और उत्तर प्रकृतियों की देशोपशमना सादि आदि चार प्रकार की है और अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियों की सादि और अध्रुव है ।

विशेषार्थ—जिन मूल और उत्तर प्रकृतियों की ध्रुवसत्ता—अनादि काल से सत्ता है, उनकी देशोपशमना सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस प्रकार चार विकल्प वाली है ।

मूलकर्मप्रकृतियों में ये चार विकल्प इस प्रकार जानना चाहिये—मूल आठ कर्मों की अपूर्वकरणगुणस्थान से आगे देशोपशमना होती नहीं है, किन्तु वहाँ से पतन होने पर होती है, इसलिये सादि है । उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया उसकी अपेक्षा अनादि और अभव्यों की अपेक्षा ध्रुव है, क्योंकि अभव्य उस स्थान को प्राप्त करने वाले ही नहीं है तथा भव्य उस स्थान का स्पर्श करेंगे, तब देशोपशमना का अंत करेंगे, अतः उनकी अपेक्षा अध्रुव-सांत है । इस प्रकार से मूल कर्मों की देशोपशमना के चार विकल्प जानना चाहिये ।

अब उत्तरप्रकृतियों में इन्हीं चार विकल्पों का निर्देश करते है—

वैक्रियसप्तक, आहारकसप्तक, मनुष्यद्विक, देवद्विक, नारकद्विक, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और उच्चगोत्र रूप उद्वलनयोग्य तेईस तथा तीर्थंकरनाम, आयुचतुष्टय, इस तरह अट्ठाईस प्रकृतियों

को छोड़कर शेष एक सौ तीस प्रकृतियाँ अनादिसत्ता वाली है। उनमें मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधि की देशोपशमना अपने-अपने अपूर्वकरण से आगे नहीं होती है और शेष सभी प्रकृतियों की अपूर्वकरण-गुणस्थान से आगे नहीं होती, उस स्थान से पतन होने पर होती है इसलिये सादि है, उस स्थान को जिन्होंने प्राप्त नहीं किया उनकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव—अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव—सान्त है और जो उपर्युक्त अट्ठाईस अध्रुवसत्ता वाली प्रकृतियां हैं, उनकी देशोपशमना उनके अध्रुव सत्ता वाली होने से सादि और अध्रुव—सांत इस तरह दो विकल्प वाली है।

इस प्रकार से एक-एक प्रकृति की साद्यादि प्ररूपणा जानना चाहिये। अब प्रकृतिस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा करते हैं।

प्रकृतिस्थानों की साद्यादि प्ररूपणा

गोयाउयाण दोण्हं चउत्थ छट्ठाण होइ छ सत्तण्हं।
साइयमाइ चउद्धा सेसाणं एगठाणस्स ॥६६॥

शब्दार्थ—**गोयाउयाण**—गोत्र और आयु के, **दोण्हं**—दो, **चउत्थ**—चौथे मोहनीय के, **छट्ठाण**—छह स्थान, **होइ**—होते हैं, **छ**—छठें नाम-कर्म के, **सत्तण्हं**—सात स्थान, **साइयमाइ**—सादि आदि, **चउद्धा**—चार प्रकार के, **सेसाण**—शेष कर्मों का, **एगठाणस्स**—एक-एक स्थान।

गाथार्थ—गोत्र और आयु के दो स्थान, चौथे मोहनीय के छह स्थान और छठे नामकर्म के सात स्थान हैं, वे सभी स्थान सादि आदि चार प्रकार के हैं, शेष कर्मों का एक-एक स्थान है।

विशेषार्थ—सत्ता में रही हुई एक या अनेक जितनी भी प्रकृतियों की एक साथ देशोपशमना हो सकती है, उनके समुदाय को स्थान कहते हैं।

गोत्रकर्म के देशोपशमना सम्बन्धी दो प्रकृतिस्थान हैं—१ दो-प्रकृतिक और २ एक-प्रकृतिक। जब तक उच्चगोत्र की उद्वलना नहीं की होती है, तब तक गोत्र की दोनों प्रकृतियां सत्ता में होती हैं। इसलिये दो प्रकृतियों का पहला प्रकृतिस्थान और उच्चगोत्र की उद्वलना करे तब एक नीचगोत्र की सत्ता होती है, जिससे उस एक प्रकृति का दूसरा प्रकृतिस्थान होता है।

आयु कर्म के भी दो प्रकृतिस्थान हैं—१ दो-प्रकृति रूप और २ एक-प्रकृति रूप। जब तक परभवायु न बांधी हो तब तक भुज्यमान एक ही आयु की सत्ता होती है। इसलिये एक-प्रकृति का पहला और जब परभवायु का बंध करे तब दो-प्रकृति का दूसरा प्रकृति-स्थान होता है।

इस प्रकार गोत्र के दो और आयु के दो इन चारों स्थानों की देशोपमना इनके अध्रुव होने से सादि और अध्रुव—सांत दो विकल्प वाली है।

चौथे मोहनीयकर्म के देशोपशमना के योग्य छह प्रकृतिस्थान इस प्रकार हैं—इक्कीस, चौबीस, पच्चीस, छब्बीस, सत्ताईस और अट्ठाईस प्रकृतियों के समुदाय रूप। शेष तेरह, बारह आदि प्रकृतिक प्रकृतिस्थान अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान में होते हैं। अतएव वे देशोपशमना के योग्य नहीं हैं।

इन स्थानों में से अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यग्दृष्टि और वेदकसम्यग्दृष्टि के होता है। सत्ताईस का जिसने सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना की हो ऐसे मिथ्यादृष्टि के, छब्बीस का जिसने मिश्र तथा सम्यक्त्वमोहनीय की उद्वलना की हो ऐसे मिथ्यादृष्टि अथवा अनादि मिथ्यादृष्टि के, पच्चीस का छब्बीस की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि के सम्यक्त्व उत्पन्न करते अपूर्वकरण से आगे, क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व की देशोपशमना होती नहीं है, पच्चीस प्रकृतियों की ही हो सकती है तथा अनन्तानुबंधि की विसंयोजना करते अपूर्व-

करण से आगे चौबीस का, अथवा चौबीस की सत्ता वाले के चौबीस का, अनन्तानुबंधिचतुष्क और दर्शनत्रिक इन सात प्रकृतियों का जिसने क्षय किया है, ऐसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि के इक्कीस प्रकृतियों का सत्तास्थान होता है। इस प्रकार मोहनीयकर्म के ये छह प्रकृतिस्थान देशोपशमना के योग्य हैं।

इन छह में से छब्बीस का स्थान छोड़कर शेष पांच स्थानों के कादाचित्क होने से उनकी देशोपशमना सादि और अध्रुव इस तरह दो विकल्प वाली है और छब्बीस प्रकृतिक स्थान सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव इस तरह चार प्रकार का है। उसमें जिसने सम्यक्त्व मिश्रमोहनीय की उद्वलना की, उसकी अपेक्षा अट्ठाईस से छब्बीस में आया, इसलिए सादि, अनादिमिथ्यादृष्टि के अनादि, अभव्य के ध्रुव—अनन्त और भव्य के अध्रुव—सांत।

इस प्रकार से मोहनीयकर्म की देशोपशमना योग्य प्रकृतिस्थानों की संख्या और उनके विकल्पों को जानना चाहिये।

अब छठे नामकर्म के देशोपशमना योग्य स्थान और उनके सादि आदि विकल्पों का निर्देश करते हैं—

नामकर्म के देशोपशमना के योग्य एक सौ तीन, एक सौ दो, छियानवै, पंचानवै, तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतियों के समुदाय रूप सात प्रकृतिस्थान हैं। इनमें के आदि के चार स्थान अपूर्वकरणगुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त देशोपशमना के योग्य जानना चाहिये। शेष तेरानवै, चौरासी और बयासी प्रकृतिक ये तीन स्थान एकेन्द्रियादि में देवद्विकादि प्रकृतियों की उद्वलना के बाद होते हैं। उनकी देशोपशमना वे कर सकते हैं। शेष स्थान अपूर्वकरणगुणस्थान से आगे होते हैं। इसलिये वे देशोपशमना के अयोग्य हैं। इन सातों स्थानों की देशोपशमना, उन सभी स्थानों के अनित्य होने से सादि और अध्रुव—सांत इस तरह दो विकल्प वाली है।

शेष ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय इन चार कर्मों का देशोपशमना आश्रयी एक-एक प्रकृतिस्थान इस प्रकार है—ज्ञानावरण और अन्तराय का पांच-पांच प्रकृतिरूप दर्शनावरण का नौ प्रकृतिरूप और वेदनीय का दो प्रकृतिरूप इनका देशोपशमना सादि आदि चार विकल्प वाली है। अपूर्वकरण से आगे उनमें के एक भी प्रकृतिस्थान की देशोपशमना होती नहीं है, किन्तु वहाँ से गिरने पर होती है इसलिये सादि, उस स्थान को जिसने प्राप्त नहीं किया उसकी अपेक्षा अनादि, अभव्य की अपेक्षा ध्रुव—अनन्त और भव्य की अपेक्षा अध्रुव—सांत है।

इस प्रकार से साद्यादि प्ररूपणा के साथ प्रकृति देशोपशमना का निरूपण पूर्ण हुआ। अब क्रमप्राप्त स्थिति-देशोपशमना के स्वरूप का विचार करते हैं।

स्थिति-देशोपशमना

उवसामणा ठिइओ उक्कोसा संकमेण तुल्लाओ।
इयरा वि किन्तु अभव्वउव्वलगअपुव्वकरणेसु ॥१००॥

शब्दार्थ—**उवसामणा**—देशोपशमना, **ठिइओ**—स्थिति की, **उक्कोसा**—उत्कृष्ट, **संकमेण**—संक्रम के, **तुल्लाओ**—तुल्य, **इयरावि**—इतर-जघन्य भी, **किन्तु**—किन्तु, **अभव्वउव्वलग**—अभव्य योग्य जघन्य स्थिति में वर्तमान उद्वलक, **अपुव्वकरणेसु**—अपूर्वकरणवर्ती जीव के।

गाथार्थ—स्थिति की उत्कृष्ट देशोपशमना उत्कृष्ट संक्रम के तुल्य और जघन्य देशोपशमना भी जघन्य संक्रम-तुल्य है, किन्तु वह अभव्ययोग्य जघन्य स्थिति में रहते एकेन्द्रिय, उद्वलक अथवा अपूर्वकरणवर्ती जीव के होती है।

विशेषार्थ—मूल प्रकृतिविषयक और उत्तरप्रकृतिविषयक इस तरह स्थिति-देशोपशमना दो प्रकार की है तथा उन दोनों के

उत्कृष्ट और जघन्य इस तरह दो-दो भेद हैं। उनमें से मूल अथवा उत्तर प्रकृतियों की उत्कृष्ट स्थिति देशोपशमना उत्कृष्ट संक्रम के समान है। अर्थात् अधिक से अधिक जितनी स्थिति का संक्रम होता है, उतनी स्थिति की देशोपशमना भी हो सकती है तथा संक्रमकरण में उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के जो स्वामी बताये हैं और जिस प्रकार से उत्कृष्ट स्थितिसंक्रम के विषय में सादि आदि विकल्पों का विचार किया है, उसी प्रकार से उत्कृष्ट देशोपशमना के सम्बन्ध में समझना चाहिये। अर्थात् उत्कृष्ट देशोपशमना पूर्ण रूपेण उत्कृष्ट संक्रम के समान है।

इतर - जघन्यस्थितिदेशोपशमना भी जघन्यस्थितिसंक्रम जैसी है। परन्तु वह अभव्यप्रायोग्य जघन्यस्थिति में रहते हुए एकेन्द्रिय को जानना चाहिये। क्योंकि प्रायः समस्त कर्मों की अति जघन्य स्थिति उसी के होती है। परन्तु जो जीव उद्वलना योग्य तेईस प्रकृतियों के उद्वलक हों, वे उन प्रकृतियों की उद्वलना करते अन्तिम पल्योपम के असंख्यातवे भागप्रमाण स्थितिखंड शेष रहे तब जघन्य स्थितिदेशोपशमना करते हैं। उनमें आहारकसप्तक, सम्यक्त्व-मोहनीय और मिश्रमोहनीय की उद्वलना एकेन्द्रियादि सभी जीव करते हैं और शेष चौदह प्रकृतियों के उद्वलक एकेन्द्रिय ही हैं। जिससे उनकी जघन्य स्थितिदेशोपशमना वही करते हैं। उसमें भी आहारकसप्तक की उद्वलना चार गुणस्थानों तक हो सकती है, इसलिये वहाँ तक के जीव उनकी जघन्यदेशोपशमना के स्वामी हैं तथा जिस प्रकृति की मिथ्यादृष्टि के जघन्य स्थितिदेशोपशमना नहीं हो सकती है, उस तीर्थंकरनामकर्म की अपूर्वकरण में जघन्य स्थितिदेशोपशमना होती है।

इस प्रकार से स्थितिदेशोपशमना का विवेचन जानना चाहिये। अब अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना का विचार करते हैं।

अनुभाग-प्रदेश देशोपशमना

अणुभाग पएसाणं सुभाण जा पुव्व मिच्छ इयराणं ।
उक्कोसियरं अभविय एगेंदि देससमणाए ॥१०१॥

शब्दार्थ—**अणुभाग पएसाणं**—अनुभाग और प्रदेश की, **सुभाण**—शुभ प्रकृतियों की, **जा पुव्व**—अपूर्वकरण तक, **मिच्छ**—मिथ्यादृष्टि के, **इयराणं**—इतर—अशुभ प्रकृतियों की, **उक्कोसियरं**—उत्कृष्ट, इतर, **अभविय**—अभव्य, **एगेंदि**—एकेन्द्रिय, **देससमणाए**—देशोपशमना के ।

गाथार्थ—अनुभाग और प्रदेश की देशोपशमना संक्रम के तुल्य है । परन्तु शुभप्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभाग और प्रदेश देशोपशमना अपूर्वकरण तक और इतर—अशुभ प्रकृतियों की मिथ्यादृष्टि के होती है तथा जघन्यदेशोपशमना के अभव्ययोग्य जघन्य स्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय स्वामी हैं ।

विशेषार्थ—अनुभागदेशोपशमना और प्रदेशदेशोपशमना अनुक्रम से अनुभागसंक्रम और प्रदेशसंक्रम के तुल्य है । उसमें से पहले अनुभाग-देशोपशमना का विचार करते हैं—

जघन्य और उत्कृष्ट के भेद से अनुभागदेशोपशमना दो प्रकार की है । उसमें जो जीव उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम का स्वामी है, वही जीव उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना का भी स्वामी है । लेकिन शुभप्रकृतियों की उत्कृष्ट देशोपशमना का स्वामी सम्यग्दृष्टि है । मात्र सातावेदनीय, उच्चगोत्र और यशःकीर्ति के उत्कृष्ट अनुभागसंक्रम के स्वामी अपूर्व-करणगुणस्थान से आगे के जीव भी हैं, किन्तु उत्कृष्ट अनुभागदेशोप-शमना के स्वामी अपूर्वकरण तक के ही जीव हैं । यानि किसी भी शुभप्रकृति की उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना के स्वामी अपूर्वकरण तक में वर्तमान सम्यग्दृष्टि जीव ही हैं ।

इतर—अशुभप्रकृतियों की उत्कृष्ट अनुभागदेशोपशमना का स्वामी उत्कृष्ट अनुभाग संक्रम के स्वामी के समान मिथ्यादृष्टि है। तथा—

जघन्य अनुभागदेशोपशमना के स्वामी इस प्रकार जानना चाहिए —तीर्थंकरनाम के सिवाय सभी प्रकृतियों की जघन्य अनुभाग देशोपशमना का स्वामी अभव्यसिद्धिकयोग्य जघन्यस्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय जीव है। यद्यपि ज्ञानावरणपंचक, संज्वलनकषायचतुष्क, दर्शनावरणचतुष्क, नव नोकषाय, अन्तरायपंचक इन सत्ताईस प्रकृतियों का जघन्य संक्रम अपने-अपने अन्त समय कहा है, परन्तु वह नौवें और दसवें गुणस्थान में होता है और अनुभागदेशोपशमना तो अपूर्वकरण तक ही होती है। जिससे इन सभी प्रकृतियों की जघन्य अनुभागदेशोपशमना का स्वामी अभव्यप्रायोग्य जघन्य स्थिति वाला एकेन्द्रिय है। अभव्यप्रायोग्य अति अल्पस्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव से अपूर्वकरणगुणस्थान वाले के अनुभाग अनन्तगुण अधिक होता है। इसीलिये उक्त एकेन्द्रिय ही जघन्य अनुभागदेशोपशमना का स्वामी माना है।

तीर्थंकरनामकर्म के जघन्य अनुभागसंक्रम का स्वामी ही उसकी जघन्य अनुभागदेशोपशमना का भी स्वामी है।

इस प्रकार से अनुभागदेशोपशमना का वर्णन जानना चाहिये। अब प्रदेशदेशोपशमना का विचार करते हैं—

प्रदेशदेशोपशमना के जघन्य और उत्कृष्ट यह दो भेद हैं। उनमें से उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम तुल्य है। यानि जो जीव जिन प्रकृतियों के उत्कृष्ट प्रदेशसंक्रम का स्वामी है, वही जीव उन प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना का भी स्वामी है। मात्र उत्कृष्ट प्रदेशदेशोपशमना अपूर्वकरणगुणस्थान के चरम समय पर्यन्त जानना चाहिये और जघन्य प्रदेशदेशोपशमना अभव्य प्रायोग्य जघन्य स्थिति में वर्तमान एकेन्द्रिय के ही होती है।

इस प्रकार से देशोपशमना का स्वरूप जानना चाहिये और इसके साथ उपशमनाकरण का वर्णन पूर्ण हुआ।

निद्धत्ति-निकाचना करण

उपशमनाकरण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त निद्धत्ति और निकाचना करण का प्रतिपादन करते हैं—

देसुवसमणा तुल्ला होइ निहत्ती निकायणा नवरि।
संकमणं वि निहत्तीइ नत्थि सव्वाणि इयरीए ॥१०२॥

शब्दार्थ—**देसुवसमणा**—देशोपशमना के, **तुल्ला**—तुल्य, **होइ**—हैं, **निहत्ती निकायणा**—निद्धति और निकाचना करण, **नवरि**—किन्तु, **संकमणं**—संक्रमण, **वि**—भी, **निहत्तीइ**—निद्धति में, **नत्थि**—नहीं होता, **सव्वाणि**—सभी, **इयरीए**—इतर में—निकाचना में।

गाथार्थ—देशोपशमना के तुल्य निद्धत्ति और निकाचना-करण हैं। मात्र निद्धत्ति में संक्रमण नहीं होता और निकाचना में सभी करण लागू नहीं होते हैं।

विशेषार्थ—निद्धत्ति और निकाचना इन दोनों करणों का स्वरूप देशोपशमना के तुल्य है। अर्थात् देशोपशमना में उसके भेद, स्वामी साद्यादि प्ररूपणा और प्रमाण आदि जो कुछ कहा गया है, वह सब जैसा का तैसा निद्धति और निकाचना के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि देशोपशमना में संक्रमण, उदवर्तना और अपवर्तना यह तीन करण प्रवर्तित होते हैं लेकिन निद्धत्ति में

उद्वर्तना और अपवर्तना इन दो करणों की प्रवृत्ति होती है और निकाचना में कोई भी करण सम्भव नहीं है। क्योंकि निकाचितदलिक समस्त करणों के अयोग्य हैं।

जहाँ-जहाँ गुणश्रेणि होती है, वहाँ प्रायः देशोपशमना, निद्धति, निकाचना और यथाप्रवृत्तसंक्रम भी सम्भव है। इसलिये अब उनका परस्पर अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

गुणसेढिपएसग्गं थोवं उवसामियं असंखगुणं।
एवं निहय निकाइय अहापवत्तेण संकंतं ॥१०३॥

शब्दार्थ—**गुणसेढिपएसग्गं**—गुणश्रेणि प्रदेशाग्र, **थोवं**—स्तोक, **उवसामियं**—उपशमित, **असंखगुणं**—असंख्यातगुण, **एवं**—इसी प्रकार, **निहय**—निद्धत्त, **निकाइय**—निकाचित, **अहापवत्तेणसंकंतं**—यथाप्रवृत्तसंक्रम से संक्रमित।

गाथार्थ—गुणश्रेणि प्रदेशाग्र स्तोक हैं, उससे उपशमित असंख्यातगुण हैं, इसी प्रकार अनुक्रम से निद्धत्त और निकाचित रूप हुए और उससे यथाप्रवृत्तसंक्रम से संक्रमित असंख्यातगुण-असंख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—किसी भी कर्म की गुणश्रेणि में गुणश्रेणि द्वारा जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे जिनका कथन आगे किया जा रहा है, उनकी अपेक्षा अल्प-स्तोक हैं। उनसे देशोपशमना द्वारा जो उपशमित होते हैं, वे असंख्यातगुण हैं, उनसे जो दलिक निद्धत्ति रूप होते हैं, वे असंख्यातगुण हैं, उनसे निकाचित रूप दलिक असंख्यातगुण हैं और उनसे यथाप्रवृत्तसंक्रम द्वारा संक्रमित दलिक असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार से निद्धत्ति एवं निकाचना करण की व्याख्या जानना चाहिये।

अब उपसंहार रूप में आठों करणों के अध्यवसायों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

ठिइबंधउदीरणतिविहसंकमे होंतिऽसंखगुण कमसो।
अज्झवसाया एवं उवसामणमाइएसु कमा ॥१०४॥

शब्दार्थ—**ठिइबंधउदीरणतिविहसंकमे**—स्थितिबंध, उदीरणा, त्रिविध संक्रम में, **होंति**—होते हैं, **असंखगुण**—असंख्यातगुण, **कमसो**—अनुक्रम से, **अज्झवसाया**—अध्यवसाय, **एवं**—और, **उवसामणमाइएसु**—उपशमना आदि में, **कमा**—क्रमशः।

गाथार्थ—स्थितिबंध, उदीरणा, त्रिविध संक्रम और उपशमना आदि में अध्यवसाय अनुक्रम से असंख्यातगुण हैं।

विशेषार्थ—गाथा में आगत ठिइबंध—स्थितिबंध शब्द से स्थिति और अनुभाग के बंध में कषाय रूप कारण समान होने से अनुभागबंध भी ग्रहण किया गया है। योग से होने वाले प्रकृति और प्रदेश बंध यहाँ ग्रहण नहीं किये हैं—इसीलिए स्थितिबंध यह पद रखा है। यानि स्थितिबंध और अनुभाग बंध के अर्थात् बंधनकरण के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प हैं। उनसे उदीरणा के योग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं, उनसे उद्वर्तना, अपवर्तना और संक्रम इन तीन करणों के समुदित अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं, उनसे उपशमनायोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं, उनसे निद्धत्तियोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं और उनसे भी निकाचनायोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुण हैं।

इस प्रकार आठों करणों का स्वरूप जानना चाहिये। अब क्रम प्राप्त सप्ततिका प्ररूपणा अधिकार का विवेचन करेंगे।

॥ उपशमनादि करणत्रय समाप्त ॥

परिशिष्ट : १

उपशमनादि करणत्रय-प्ररूपणा अधिकार

मूल गाथाएँ

देसुवसमणा सव्वाण होइ सव्वोवसामणा मोहे ।
अपसत्था पसत्था जा करणुवसमणाए अहिगारो ॥१॥
सव्वुवसमणजोग्गो पज्जत्त पणिदि सण्णि सुभलेसो ।
परियत्तमाणसुभपगइबंधगोऽतीव सुज्झंतो ॥२॥
असुभसुभे अणुभागे अणंतगुणहाणिवुड्ढिपरिणामो ।
अन्तोकोडाकोडीठिइओ आउं अबंधंतो ॥३॥
बन्धादुत्तरबन्धं पलिओवमसंखभागऊणूणं ।
सागारे उवओगे वट्टन्तो कुणइ करणाइं ॥४॥
पढमं अहापवत्तं बीयं तु नियट्टी तइयमणियट्टी ।
अंतोमुहुत्तियाइं उवसमअद्धं च लहइ कमा ।५॥
आइल्लेसु दोसुं जहन्नउक्कोसिया भवे सोही ।
जं पइसमयं अज्झवसाया लोगा असंखेज्जा ॥६॥
पइसमयमणन्तगुणा सोही उड्ढामुही तिरिच्छा उ ।
छट्ठाणा जीवाणं तइए उड्ढामुहीं एक्का ॥७॥
गन्तुं संखेज्जंसं अहापवत्तस्स हीण जा सोही ।
तोए पढमे समये अणन्तगुणिया उ उक्कोसा ॥८॥
एवं एक्कंतरिया हेट्टुवरिं जाव हीणपज्जन्ते ।
तत्तो उक्कोसाओ उवरुवरिं होइ अणन्तगुणा ॥९॥
जा उक्कोसा पढमे तीसेणन्ता जहण्णिया बीए ।
करणे तीए जेट्ठा एवं जा सव्वकरणंपि ॥१०॥

अपुव्वकरणसमगं कुणइ अपुव्वे इमे उ चत्तारि।
ठितिघायं रसघायं गुणसेढी बंधगद्धा य ॥११॥

उक्कोसेणं बहुसागराणि इयरेण पल्लसंखंसं।
ठितिअग्गाओ घायइ अन्तमुहुत्तेण ठितिखंडं ॥१२॥

असुभाणंतमुहुत्तेणं हणइ रसकंडगं अणंतंसं।
किरणे ठितिखंडाणं तंमि उ रसकंडगसहस्सा ॥१३॥

घाइय ठिईओ दलियं घेत्तुं घेत्तुं असंखगुणणाए।
साहियदुकरणकालं उदयाइ रएइ गुणसेढिं ॥१४॥

करणाइए अपुव्वो जो बंधो सो न होइ ता अन्तो।
बंधगद्धा सा तुल्लिगा उ ठिइकंडगद्धाए ॥१५॥

जा करणाईए ठिई करणन्ने तीइ होइ संखंसो।
अणिअट्टिकरणमओ मुत्तावलिसंठियं कुणइ ॥१६॥

एवमनियट्टीकरणे ठितिघायाईणि होंति चउरो वि।
संखेज्जंसे सेसे पढमठिई अंतरं च भवे ॥१७॥

अन्तमुहुत्तियमेत्ताइं दोवि निम्मवइ बंधगद्धाए।
गुणसेढिसंखभागं अन्तरकरणेण उक्किरइ ॥१८॥

अंतरकरणस्स विहि घेत्तुं ठिईउ मज्झाओ।
दलियं पढमठिईए विच्छुभई तहा उवरिमाए ॥१९॥

इगदुगआवलिसेसाइ णत्थि पढमा उदीरणागालो।
पढमठिईए उदीरण बीयाओ एइ आगाला ॥२०॥

आवलिमेत्तं उदएण वेइउं ठाइ उवसमद्धाए।
उवसमियं तत्थ भवे सम्मत्तं मोक्खबीयं जं ॥२१॥

उवरिमठिइअनुभागं तं च तिहा कुणइ चरिममिच्छुदए।
देसघाईणं सम्म इयरेणं मिच्छमीसाइं ॥२२॥

सम्मे थोवो मीसे असंखओ तस्ससंखओ सम्मे।
पइसमयं इय खेवो अन्तमुहुत्ता उ विज्झाओ ॥२३॥

गुणसंकमेण एसो संकमो होइ सम्ममीसेसु।
अंतरकरणंमि ठिओ कुणइ जओ स पसत्थगुणो ॥२४॥

गुणसंकमेणसमगं तिण्णि थक्कंत आउवज्जाणं।
मिच्छत्तस्स उ इगिदुगआवलिसेसाए पढमाए ॥२५॥

उवसंतद्धाअन्ते बिइए ओकड्डिदयस्स दलियस्स।
अज्झवसाणविसेसा एकस्सुदओ भवे तिण्हं ॥२६॥

छावलियासेसाए उवसमअद्धाइ जाव इगसमयं।
असुभपरिणामओ कोइ जाइ इह सासणत्तंपि ॥२७॥

सम्मत्तेणं समगं सव्वं देसं च कोइ पडिवज्जे।
उवसंतदंसणी सो अन्तरकरणे ठिओ जाव ॥२८॥

वेयगसम्मद्दिट्ठि सोही अद्धाए अजयमाईया।
करणदुगेण उवसमं चरित्तमोहस्स चेट्ठंति ॥२९॥

जाणणगहणणुपालणविरओ विरई अविरओण्णेसु।
आईमकरणदुगेणं पडिवज्जइ दोण्हमण्णयरं ॥३०॥

उदयावलिए उप्पि गुणसेढिं कुणइ चरित्तेण।
अन्तो असंखगुणणाइ तत्तियं वड्ढई कालं ॥३१॥

परिणामपच्चएणं गमागमं कुणइ करणरहिओवि।
आभोगणट्ठचरणो करणे काऊण पावेइ ॥३२॥

परिणामपच्चएणं चउव्विहं हाइ वड्ढई वावि।
परिणामवड्ढयाए गुणसेढिं तत्तियं रयइ ॥३३॥

सम्मुप्पायणविहिणा चउगवया सम्मिदिट्ठिपज्जत्ता।
संजोयणा विजोयन्ति न उण पढमट्ठिन्ति करेंति ॥३४॥

उवरिमगे करणदुगे दलियं गुणसंकमेण तेसिं तु।
नासेइ तओपच्छा अन्तमुहुत्ता सभावत्थो ॥३५॥

दंसणखवणस्सरिहो जिणकालीओ पुमट्ठवासुवरिं ।
अणणासकमा करणाइ करिय गुणसंकम तहय ॥३६॥

अप्पुव्वकरणसमगं गुणउव्वलणं करेइ दोण्हंपि ।
तक्करणाइ जं तं ठिइसंतं संखभागन्ते ॥३७॥

एवं ठिइबंधो वि हु पविसइ अणियट्टिकरणसमयंमि ।
अप्पुव्वं गुणसेढिं ठितिरसखंडाणि बंधं च ॥३८॥

देसुवसमणनिकायणनिहत्तिरहियं च होय दिट्ठितिगं ।
कमसो असण्णिचउरिंदियाइतुल्लं च ठितिसंतं ॥३९॥

ठितिखंडसहस्साइं एक्केक्के अन्तरंमि गच्छन्ति ।
पलिओवम संखंसे दंसणसंते तओ जाए ॥४०॥

संखेज्जा संखिज्जा भागा खण्डइ सहससो तेवि ।
तो मिच्छस्स असंखा संखेज्जा सम्ममीसाण ॥४१॥

तत्तो बहुखंडंते खंडइ उदयावलीरहियमिच्छं ।
तत्तो असंखभागा सम्मामीसाण खंडेइ ॥४२॥

बहुखंडंते मीसं उदयावलिबाहिरं खिवइ सम्मे ।
अडवाससंतकम्मो दंसणमोहस्स सो खवगो ॥४३॥

अन्तमुहुत्तियखंडं तत्तो उक्किरइ उदयसमयाओ ।
निक्खिवइ असंखगुणं जा गुणसेढी परिहीणं ॥४४॥

उक्किरइ असंखगुणं जाव दुचरिमंति अंतिमे खंडे ।
संखेज्जंसो खंडइ गुणसेढीए तहा देइ ॥४५॥

कयकरणो तक्काले कालंपि करेइ चउसु वि गइसु ।
बेइयसेसो सेढी अण्णयरं वा समारुहइ ॥४६॥

तइय चउत्थे तम्मि व भवंमि सिज्झंति दंसणे खीणे ।
जं देवनरयऽसंखाउ चरमदेहेसु ते होंति ॥४७॥

अहवा दंसणमोहं पढमं उवसामइत्तु सामण्णे ।
ठिच्चा अणुदइयाण पढमठिई आवली नियमा ॥४८॥

पढमुवसमंव सेसं अन्तमुहुत्ताउ तस्स विज्झाओ ।
संकेसविसोहिओ पमत्तइयरत्तणं बहुसो ॥४९॥

पुणरवि तिन्नि करणाइं करेइ तइयंमि एत्थ पुण भेओ ।
अन्तोकोडाकोडी बंधं संत च सत्तण्हं ॥५०॥

ठिइखंडं उक्कोसंपि तस्स पल्लस्स संखतमभागं ।
ठितिखंडं बहु सहस्से एक्केक्कं जं भणिस्सामो ॥५१॥

करणस्स संखभागे सेसे य असण्णिमाइयाण समो ।
बंधो कमेण पल्लं वीसग तीसाण उ दिवड्ढं ॥५२॥

मोहस्स दोण्णि पल्ला संतेवि हु एवमेव अप्पनहू ।
पलियमित्तंमि बंधे अण्णो संखेज्जगुणहीणो ॥५३॥

एवं तीसाण पुणो पल्लं मोहस्स होइ उ दिवड्ढं ।
एवं मोहे पल्लं सेसाण पल्लसंखसो ॥५४॥

वीसगतीसगमोहाण संतयं जहकमेण संखगुणं ।
पल्ल असंखेज्जसो नामगोयाण तो बंधो ॥५५॥

एवं तीसाणंपि हु एक्कपहारेण मोहणीयस्स ।
तीसगअसंखभागो ठितिबंधो सतय च भवे ॥५६॥

वीसग असंखभागे मोहं पच्छा उ घाइ तइयस्स ।
वीसग तओ घाई असंखभागम्मि वज्झंति ॥५७॥

असंखसमयबद्धाणुदीरणा होइ तंमि कालम्मि ।
देसघाइरसं तो मणपज्जव अन्तरायाण ॥५८॥

लाहोहीणं पच्छा भोगअचक्खुसुयाण तो चक्खु ।
परिभोगमइणं तो विरियस्स असेढिगा घाई ॥५९॥

संजमघाईण तओ अंतरमुदओ उ जाण दोण्हं तु।
वेयकसायण्णयरे सोदयतुल्ला उ पढमट्ठिई ॥६०॥

थीअपुमोदयकाला संखेज्जगुणा उ पुरिसवेयस्स।
तस्सवि विसेसअहिओ कोहे तत्तवि जहकमसो ॥६१॥

अंतरकरणेण समं ठितिखंडगबंधगद्धनिप्फत्ति।
अंतरकरणाणंतरसमए जायंति सत्त इमे ॥६२॥

एगट्ठाणाणुभागो बंधो उदीरणा य संखसमा।
अणुपुव्वी संकमणं लोहस्स असंकमो मोहे ॥६३॥

बद्धं बद्धं छसु आवलीसु उवरेणुदीरणं एइ।
पंडगवेउवसमणा असंखगुणणाइ जावंतं ॥६४॥

अंतरकरणपविट्ठो संखासंखंसमोहइयराणं।
बंधादुत्तारबंधो एवं इत्थीए संखंसे ॥६५॥

उवसंते घाईणं संखेज्जसमा परेण संखंसो।
बंधो सत्तण्हेवं संखेज्जतमंमि उवसंते ॥६६॥

नामगोयाण संखा बंधो वासा असंखिया तइए।
ता सव्वाण वि संखा तत्तो संखेज्जगुणहाणी ॥६७॥

जं समए उवसंतं छक्कं उदयट्ठिई तया सेसा।
पुरिसे समऊणावलिदुगेण बंधं अणुवसंतं ॥६८॥

आगालेण समगं पडिग्गहया फिडइ पुरिसवेयस्स।
सोलसवासिय बंधो चरिमो चरिमेण उदएण ॥६९॥

तावइ कालेणं चिय पुरिसं उवसामए अवेदो तो।
बंधो बत्तीससमा संजलणियराण उ सहस्सा ॥७०॥

अव्वेयपढमसमया कोहतिगं आढवेइ उवसमिउं।
तिसु पडिग्गहया एक्का उदओ य उदीरणा बंधो ॥७१॥

फिट्टन्ति आवलीए सेसाए सेसयं तु पुरिससमं ।
एवं सेसकसाया वेयइ थिवुगेण आवलिया ॥७२॥

चरिमुदयम्मि जहन्नो बंधो दुगुणो उ होइ उवसमगे ।
तयणंतरपगईए चउतग्गुणोण्णेसु संखगुणो ॥७३॥

लोभस्स उ पढमठिइं विईयठिइओ उ कुणइ तिविभागं ।
दोसु दलणिक्खेवो तइयो पुण किट्टीवेयद्धा ॥७४॥

संताणि बज्झमाणग सरूवओ फड्डगाणि जं कुणइ ।
सा अस्सकण्णकरणद्धा मज्झिमा किट्टिकरणद्धा ॥७५॥

अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणूण विभयणं किट्टि ।
पढमसमयंमि रसफड्डगवग्गणाणंतभाग समा ॥७६॥

सव्वजहन्नगफड्डगअणन्तगुणहाणिया उ ता रसओ ।
पइसमयसंखंसो आइमसमया उ जावन्तो ॥७७॥

अणुसमयमसंखगुणं दलियमणन्तंसओ उ अणुभागो ।
सव्वेसु मन्दरसमाइयाण दलियं विसेसूणं ॥७८॥

आइमसमयकयाणं मंदाईणं रसो अणन्तगुणो ।
सव्वुक्कस्सरसा वि हु उवरिमसमयस्सऽणंतंसे ॥७९॥

किट्टिकरणद्धाए तिसु आवलियासु समयहीणासु ।
न पडिग्गहया दोण्हवि सट्ठाणे उवसमिज्जंति ॥८०॥

लोहस्स अणुवसंतं किट्टी उदयावली य पुव्वत्तं ।
बायरगुणेण समगं दोण्णिवि लोभा समुवसन्ता ॥८१॥

सेसद्धं तणुरागो तावइया किट्टिओ उ पढमठिई ।
वज्जिय असंखभागं हिट्ठुवरिमुदीरए सेसा ॥८२॥

गेण्हन्तो य मुयन्तो असंखभागं तु चरिमसमयंमि ।
उवसामिय बीयठिइं उवसंतं लभइ गुणठाणं ॥८३॥

अन्तोमुहुत्तमेत्तं तस्सवि संखेज्जभागतुल्लाओ।
गुणसेढी सव्वद्धं तुला य पएसकालेहिं ॥८४॥

करणाय नोवसंतं संकमणोवट्टणं तु दिट्ठितिगं।
मोत्तुण विलोमेणं परिवडई जा पमत्तोति ॥८५॥

ओकड्डित्ता दलियं पढमठितिं कुणइ विइयठिइहिंतो।
उदयाइ विसेसूणं आवलिउप्पि असंखगुणं ॥८६॥

जावइया गुणसेढी उदयवई तासु हीणगं परओ।
उदयावलीमकाउं गुणसेढिं कुणइ इयराणं ॥८७॥

संकमउदीरणाणं नत्थि विसेसो उ एत्थ पुव्वुत्तो।
जं जत्थ उ विच्छिन्नं जायं वा होइ तं तत्थ ॥८८॥

वेइज्जमाण संजलण कालाओ अहिगमोहगुणसेढी।
पडिवत्तिकसाउदए तुल्ला सेसेहि कम्मेहिं ॥८९॥

खवगुवसामगपच्चागयाण दुगुणो तहिं तहिं बंधो।
अणुभागोऽणंतगुणो असुभाण सुभाण विवरीओ ॥९०॥

परिवाडीए पडिउं पमत्ताइयरत्ताणे बहू किच्चा।
देसजई सम्मो वा सासणभावं वए कोई ॥९१॥

उवसमसम्मत्ताद्धा अन्तो आउक्खया धुवं देवो।
जेण तिसु आउएसुं बद्धेसु न सेढिमारुहई ॥९२॥

सेढिपडिओ तम्हा-छडावलि सासणो वि देवेसु।
एगभवे दुक्खुत्तो चरित्तमोहं उवसमेज्जा ॥९३॥

दुचरिमसमये नियगोदयस्स इत्थीनपुंसगोण्णोण्णं।
समयित्तु सत्त पच्छा किन्तु नपुंसो कमारद्धे ॥९४॥

मूलुत्तरकम्माणं पगडिट्ठितिमादि होइ चउभेया।
देसकरणेहिं देसं समइ जं देससमणा तो ॥९५॥

उवट्टण ओवट्टण संकमकरणाइं होंति नण्णाई।
देसोवसामियस्सा जा पुव्वो सव्वकम्माणं ॥६६॥

खवगो उवसमगो वा पढमकसायणि दंसणतिगस्स।
देसोवसामगो सो अपुव्वकरणंतगो जाव ॥६७॥

साइयमाइचउद्धा देसुवसमणा अणाइसंतीणं।
मूलुत्तरपगईणं साइ अधुवा उ अधुवाओ ॥६८॥

गोयाउयाण दोण्हं चउत्थ छट्ठाण होइ छ सत्तण्हं।
साइयमाइ चउद्धा सेसाणं एगठाणस्स ॥६९॥

उवसामणा ठिइओ उक्कोसा संकमेण तुल्लाओ।
इयरा वि किन्तु अभव्वउव्वलगअपुव्वकरणेसु ॥१००॥

अणुभाग पएसाणं सुभाण जा पुव्व मिच्छ इयराणं।
उक्कोसियरं अभविय एगेदि देससमणाए ॥१०१॥

निद्धत्ति—निकाचनाकरण

देसुवसमणा तुल्ला होइ निहत्ती निकायणा नवरि।
संकमणं वि निहत्तीइ नत्थि सव्वाणि इयरीए ॥१०२॥

गुणसेढिपएसग्गं थोवं उवसामियं असंखगुणं।
एवं निहय निकाइय अहापवत्तोण संकंतं ॥१०३॥

ठिइबंधउदीरणतिविहसंकमे होंतिऽसंखगुण कमसो।
अज्झवसाया एवं उवसामणमाइएसु कमा ॥१०४॥

□ □

उपशमनादि करणत्रय-प्रकरणगत
गाथाओं की अकाराद्यनुक्रमणिका

गाथांश	गा. सं./पृ. सं.
अणुसमयमसंखगुणं	७८/१०२
अणुभाग पएसाणं	१०१/१३७
अप्पुव्व विसोहीए	७६/१०१
अपुव्वकरण समगं	११/१८
अपुव्वकरणसमगं कुणइ	३७/५२
अव्वेय पढम समया	७१/९१
असुभ सुभे अणुक्कमे	३/५
असुभाणंत मुहुत्तेणं	१३/२०
असंखसमयबद्धा	५८/७६
अहवा दंसणमोहं	४८/६५
अंतोमुहुत्तमेत्तं	८४/११३
अंतमुहुत्तियखंडं	४४/५९
अंतमुहुत्तिय मेत्ताइं	१८/२५
अंतरकरण पविट्ठो	६५/८५
अंतरकरणस्स विहि	१९/२७
अंतरकरणेण समं	६२/८२
आइम समय कयाण	७९/१०५
आइल्लेसु दोसुं	६/८
आगालेणं समगं	६९/८९
आवलिमेत्तं उदएण	२१/२९
इगदुगआवलिसेसाइ	२०/२८
उक्किरइ असंखगुणं	४५/६०
उक्कोसेणं बहुसागराणि	१२/१९
उदयावलिए उप्पिं	३१/४१
उवरिमगे करणदुगे	३५/४५
उवरिमठिइ अनुभागं	२२/३०
उवसमसम्मत्तद्धा	९२/१२३
उवसामणा ठिइओ	१००/१३५
उवसंतद्धा अंते	२६/३४
उवसंते घाईणं	६६/८५
एगट्ठाणाणुभागो	६३/८२
एयमोकड्डीकरणं	१७/२५
एवं एक्कंतरिया	९/१३
एवं ठिइबंधोवि हु	३८/५४
एवं तीसाण पुणो	५४/७१
एवं तीसाणंपि हु	५६/७३
ओकड्डिउत्ता दलियं	८६/११८
कयकरणो तक्काले	४६/६१
करणस्स संखभागे	५२/६९
करणाइए अपुव्वो	१५/२४
करणाय नोवसंतं	८५/११४
किट्टिकरणद्धाए	८०/१०७
खवगुवसामगपच्चा	९०/१२१
खवगो उवसमगो वा	१७/१२९
गुणसेढिपएसग्गं	१०३/१४०
गुणसंकमेण एसो	२४/३२
गुणसंकमेण समगं	२५/३३
गेण्हन्तो य मुयन्तो	८३/१११
गोवाउयाण दोण्हं	९९/१३२

गाथांश	गा. सं./पृ. सं.
गंतुं संखेज्जंसं	८/१२
घाइय ठिईओ दलियं	१४/२२
चरिमुदयम्मि जहन्नो	७३/९६
छादिसेसाए	२७/३५
जा उक्कोसा पढमे	१०/१६
जा करणाईए ठिई	१६/२४
जाणण गहणणुपालण	३०/३७
जावइया गुणसेढी	८७/११८
जं समए उवसंतं	६८/८८
ठिइखंडं उक्कोसंपि	५१/६८
ठिइबंधउदीरण	१०४/१४१
ठितिखंड सहस्साइं	४०/५४
तइय चउत्थे तम्मिव	४७/६३
तत्तो बहुखंडंते	४२/५७
तावइ कालेणं चिय	७०/८९
थीअपुमोदयकाला	९१/८१
दुचरिमसमये नियगोदयस्स	९४/१२६
देसुवसमणनिकायण	३९/५४
देसुवसमणा तुल्ला	१०२/१३९
देसुवसमणा सव्वाण होइ	१/३
दंसणखवणस्सरिहो	३६/५२
नामगोयाण संखा	९७/८६
पइसमयमणन्तगुणा	७/११
पढमं अहापवत्तं	५/८
पढमुवसमंव सेसं	४९/६५
परिणाम पच्चएणं गमागमं	३२/४२
परिणाम पच्चएणं चउव्विहं	३३/४३
परिवाडीए पडिअं	९१/१२२
पुणरवि तिन्नि करणाइं	५०/६७
फिट्टन्ति आवलीए	७२/९१
बद्धं बद्धं छसु आवलीसु	९४/८२
बहुखंडंते मीसं	४३/५७
बंधादुत्तर बन्धं	४/५
मूलुत्तर कम्माणं	९५/१२८
मोहस्स दोण्णि पल्ला	५३/७०
लाहोहीणं पच्छा	५९/७७
लोभस्स उ पढमठिइं	७४/९८
लोहस्स अणुवसंतं	८१/१०८
वीसग असंखभागे	५७/७५
वोसग तीसग मोहण	५५/७२
वेइज्जतमाण संजलण	८९/१२०
वेयग सम्मद्दिट्ठि	२९/३७
सम्मत्तेणं समगं	२८/३५
सम्मुग्घायण विहिणा	३४/४४
सम्मे थोवो मीसे	२३/३०
सव्व जहन्नग फड्डग	७७/१०२
सव्वुवसमण जोग्गो	२/५
साइयमाइचउद्धा	९८/१३१
सेढिपडिओ तम्हा	९३/१२४
सेसद्धं तणुरागो	८२/१०९
संकम उदीरणाणं	८८/१२०
सजेज्जा संखिज्जा	४१/५६
संजमघाईण तओ	६०/७८
संताणि बज्झमाणग	७५/१००

परिशिष्ट : ३

सम्यक्त्वोत्पाद प्ररूपणा का सारांश

करणकृत उपशमना की प्रथम भूमिका सम्यक्त्व प्राप्त करना है। अतएव संक्षेप में उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं।

चारों गति में वर्तमान सर्वपर्याप्तियों से पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव उपशम, उपदेश-श्रवण और उपशमन क्रिया के योग्य उत्कृष्ट योग—इन तीन लब्धि युक्त जीव यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु करण काल के पूर्व भी अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त यह योग्यतायें होती हैं—

१ ग्रन्थिदेश के निकट आये अभव्य को विशुद्धि की अपेक्षा भी उत्तरोत्तर प्रतिसमय अनन्तगुण प्रवर्धमान विशुद्धि होती है।

२ आयु सिवाय शेष सात कर्मों की अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थिति सत्ता और अशुभ प्रकृतियों के सत्तागत चतुःस्थानगत रस को द्विस्थानक एवं शुभ प्रकृतियों के सत्तागत द्विस्थानक रस को चतुःस्थानक करता है।

३ मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंगज्ञान में से किसी भी एक साकारोपयोग में और जघन्य परिणाम से तेजोलेश्या, मध्यम परिणाम से पद्म लेश्या एवं उत्कृष्ट परिणाम से शुक्ल लेश्या में वर्तमान होता है।

४ स्वभूमिकानुसार जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट योग में बध्यमान प्रकृतियों का स्वभूमिकानुसार क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट प्रदेश बंध करता है।

५ यदि सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले मनुष्य अथवा तिर्यंच हों तो सैंतालीस ध्रुवबंधिनी प्रकृति एवं सातावदेनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, उच्चगोत्र ये पांच तथा देवद्विक, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियद्विक, प्रथम संस्थान, शुभविहायोगति, उच्छ्वास, पराघात और त्रसदशक ये नामकर्म की उन्नीस

इस तरह कुल परावर्तमान चौबीस प्रकृति बाँधता है लेकिन यदि देव और नारक हों तो ध्रुवबंधिनी सैंतालीस, सातावेदनीय, हास्य, रति, पुरुषवेद, उच्चगोत्र, ये पांच और मनुष्यद्विक, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकद्विक, प्रथम संहनन एवं संस्थान, शुभविहायोगति, पराघात, उच्छ्वास, और त्रसदशक नामकर्म की ये बीस प्रकृति, इस प्रकार कुल पच्चीस प्रकृति बांधता है। परन्तु सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला सातवीं पृथ्वी का नारक हो तो वह मिथ्यात्व अवस्था में मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र का बन्ध ही नहीं करने वाला होने से मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र के बदले तिर्यंचद्विक और नीच गोत्र सहित पच्चीस अथवा उद्योत का बन्ध करे तो छब्बीस प्रकृति बांधता है।

आयु का घोलमान परिणामों में बन्ध होता है, परन्तु यहाँ एक धारा प्रवर्धमान परिणाम होने से आयुकर्म की किसी भी प्रकृति का बन्ध नहीं होता है।

६ सामान्य से एक अन्तर्मुहूर्त तक समान स्थिति-बन्ध होते रहने से वह एक स्थितिबन्ध कहलाता है और अन्तर्मुहूर्त के बाद संक्लिष्ट या विशुद्ध परिणाम के अनुसार क्रमशः अधिक या हीन स्थितिबन्ध होता है परन्तु यहाँ क्रमशः प्रवर्धमान विशुद्ध परिणाम होने से पूर्व-पूर्व का स्थितिबन्ध पूर्ण कर उस-उस स्थितिबन्ध की अपेक्षा पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग न्यून-न्यून नया-नया स्थितिबन्ध करता है।

७ प्रत्येक समय बध्यमान शुभ प्रकृतियों का रस पूर्व-पूर्व के समय से अनन्तगुण अधिक-अधिक और अशुभ प्रकृतियों का अनन्तगुण हीन-हीन बाँधता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल रहने के बाद यथाप्रवृत्त, अपूर्व और अनिवृत्ति यह तीन करण करता है। इनमें से प्रत्येक का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

यथाप्रवृत्त और अपूर्व इन दोनों करणों में एक साथ प्रविष्ट जीवों के प्रत्येक समय विशुद्धि में तरतमता होती है, जिससे प्रत्येक समय त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण प्रवर्धमान-हीयमान अध्यवसाय होते हैं और इन दोनों करणों के प्रभाव से मोहनीयकर्म का उसी प्रकार का विचित्र क्षयोपशम होता है कि जिससे उत्तर-उत्तर के समय में अध्यवसाय किंचित् अधिक-अधिक होते हैं और संपूर्ण एक अथवा

दोनों करणों के कुल अध्यवसाय भी असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होते हैं, परन्तु एक-एक समयवर्ती असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों की अपेक्षा सम्पूर्ण करणगत अध्यवसायों की संख्या असंख्यगुण असंख्य लोकाकाश प्रदेश प्रमाण होती है। सुगम बोध के लिए इस बात को असत्कल्पना से स्पष्ट करते हैं—

यथाप्रवृत्तकरण—करण काल का अन्तर्मुहूर्त असंख्यात समय का होने पर भी असत्कल्पना से पच्चीस समय प्रमाण और प्रथम समय के असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों की संख्या एक सौ और उत्तर-उत्तर के समय में कुछ अधिक-अधिक यानि पांच-पांच अधिक मानें तो यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय में त्रिकालवर्ती सर्वजीवों की अपेक्षा एक सौ, दूसरे समय एक सौ पांच, तीसरे समय एक सौ दस अध्यवसाय हों, इस प्रकार उत्तर-उत्तर के समय में पांच-पांच अध्यवसाय अधिक होने से पच्चीस समयात्मक अन्तर्मुहूर्त के चरम समय में अर्थात् पच्चीसवें समय में अनेक जीवों की अपेक्षा कुल दो सौ बीस अध्यवसाय होंगे।

यहाँ तिर्यग्मुखी और ऊर्ध्वमुखी इस प्रकार दो तरह की विशुद्धि होती है। प्रथम समय के एक सौ अध्यवसाय हैं। उनमें पहला अध्यवसाय सबसे अल्पविशुद्धि वाला और उसकी अपेक्षा सौवां अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाला होता है जिससे प्रथमांकवर्ती अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा अन्तिम अध्यवसाय तक के अध्यवसायों में के कितने ही अध्यवसाय अनन्तभाग अधिक, कितने ही असंख्यातभाग अधिक, कितने ही संख्यातभाग अधिक, कितने ही संख्यातगुण अधिक, कितने ही असंख्यातगुण अधिक और कितने ही अन्तिम अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाले होते हैं।

इसी प्रकार दूसरे समय के एक से एक सौ पांच तक के जो अध्यवसाय हैं, उनमें प्रथम अध्यवसाय दूसरे आदि अध्यवसायों से अल्प विशुद्धि वाला है और उसी पहले समय की विशुद्धि की अपेक्षा एक सौ पांचवें अध्यवसाय तक के अध्यवसायों में कितने ही अध्यवसाय अनन्तभाग अधिक, कितने ही असंख्यातभाग अधिक, कितने ही संख्यातभाग अधिक, कितने ही संख्यातगुण अधिक, कितने ही असंख्यातगुण और कितने ही अन्तिम अध्यवसाय अनन्तगुण अधिक विशुद्धि वाले होते हैं। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय

तक प्रत्येक समय के अध्यवसायों में सूक्ष्म दृष्टि से असंख्यात प्रकार की तरतमता होने पर भी स्थूल दृष्टि से छह-छह प्रकार की तरतमता होती है, यह तिर्यग्मुखी विशुद्धि कहलाती है।

पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों की विशुद्धि की अपेक्षा उत्तरोत्तर समयों की विशुद्धि भी सामान्य से अनन्तगुण होती है, जिसे ऊर्ध्वमुखी विशुद्धि कहते हैं।

यथाप्रवृत्तकरण में पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों से उत्तर-उत्तर के समयों में समस्त अध्यवसाय नये नहीं होते हैं। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व समय के सभी अध्यवसाय उत्तर-उत्तर के समय में प्राप्त भी नहीं होते हैं। परन्तु पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसायों में से प्रारम्भ के अल्प विशुद्धि वाले अल्प-अल्प अध्यवसाय छोड़ता है और जितने छोड़ता है, उससे कुछ अधिक संख्या प्रमाण नये-नये अध्यवसाय उत्तर-उत्तर के समय के होते हैं। जो इस प्रकार हैं—

प्रथम समय के जो एक सौ अध्यवसाय हैं, उनमें से एक से बीस तक के अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के जो इक्कीस से सौ तक के कुल अस्सी और पच्चीस उनसे अधिक विशुद्धि वाले नवीन—इस तरह कुल एक सौ पांच अध्यवसाय दूसरे समय में होते हैं। उनमें से प्रथम समय के इक्कीस से चालीस तक के बीस अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के साठ और पचास नये इस प्रकार एक सौ दस अध्यवसाय तीसरे समय में होते हैं। उनमें से प्रथम समय के इकतालीस से साठ तक के बीस अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के चालीस और पचहत्तर नये इस तरह कुल एक सौ पन्द्रह अध्यवसाय चौथे समय में होते हैं और उनमें से भी प्रथम समय के इकसठ से अस्सी तक के बीस अध्यवसाय छोड़कर शेष प्रथम समय के इक्यासी से सौ तक के बीस अध्यवसाय और एक सौ नये, इस तरह कुल एक सौ बीस अध्यवसाय पांचवें समय में होते हैं।

अर्थात् पच्चीस समयात्मक यथाप्रवृत्तकरण के पांच-पांच समय प्रमाण पांच भाग करें। तो प्रथम समय के अध्यवसाय पाँच समय स्वरूप यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम संख्यातवें भाग के चरम समय रूप पांचवें समय तक होते हैं। दूसरे समय के छठे समय तक, तीसरे समय के सातवें समय तक, चौथे के आठवें समय तक, पांचवें के नौवें समय तक, छठे के दसवें समय तक

इस तरह यावत् इक्कीसवें समय के अध्यवसायों में के अमुक अध्यवसाय यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय रूप पच्चीसवें समय तक होते है। जिससे यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम समय की जघन्य विशुद्धि से यथाप्रवृत्तकरण के प्रथम पांच समय स्वरूप संख्यातवें भाग में के चरम समय रूप पांचवें समय तक दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें समय के अध्यवसायस्थान की जघन्य विशुद्धि क्रमशः एक-एक से अनन्तगुण अधिक होती है, वह पांचवें समय के अध्यवसाय की जघन्य विशुद्धि से प्रथम समय के अध्यवसाय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है।

उससे संख्यात भाग स्वरूप पांच समय से ऊपर के छठे समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे आदि के दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है। उससे संख्यात भाग के अपर के दूसरे अर्थात् सातवें समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण, उससे आदि के तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है, इस प्रकार ऊपर-ऊपर के एक-एक समय की जघन्य और प्रारम्भ के ऊपर-ऊपर के एक-एक समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनुक्रम से अनन्तगुण अधिक-अधिक होने से बीसवें समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय रूप पच्चीसवें समय की जघन्य विशुद्धि अनन्तगुण होती है। यहां पर समस्त समयों के अध्यवसाय-स्थानों की जघन्य विशुद्धि पूर्ण होती है परन्तु अन्तिम ऊपर के इक्कीस से पच्चीस तक के पांच समय रूप अन्तिम संख्यात भाग के समय प्रमाण अध्यवसायों की उत्कृष्ट विशुद्धि शेष रहती है, इसलिये पच्चीसवें समय की जघन्य विशुद्धि से चरम संख्यातवें भाग के प्रथम समय की अर्थात् इक्कीसवें समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण, उससे बाईस, तेईस, चौबीस और पच्चीसवें समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनुक्रम से एक-एक से अनन्तगुण होती है।

इस प्रकार नदीगोल-पाषाण के न्याय से तथा भव्यत्व भाव के परिपाक के वश भव्य एवं अभव्य भी अनेक बार यथाप्रवृत्तकरण करके ग्रन्थिदेश तक आते हैं और अभव्य जीव मोक्ष की श्रद्धा बिना सांसारिक सुखों की इच्छा से द्रव्यचारित्र ग्रहण कर श्रुत सामायिक का लाभ प्राप्त कर नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते हैं, परन्तु सम्यक्त्व आदि शेष तीन सामायिक प्राप्त नहीं करते हैं, तथा उन अभव्य जीवों का एवं अन्तर्मुहूर्त में समयक्त्व प्राप्त न करने

वाले भव्य जीवों के यथाप्रवृत्तकरण की अपेक्षा यह यथाप्रवृत्तकरण विलक्षण है, जिससे अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले भव्य जीव यथाप्रवृत्तकरण के बाद तत्काल ही अपूर्वकरण करते हैं। जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

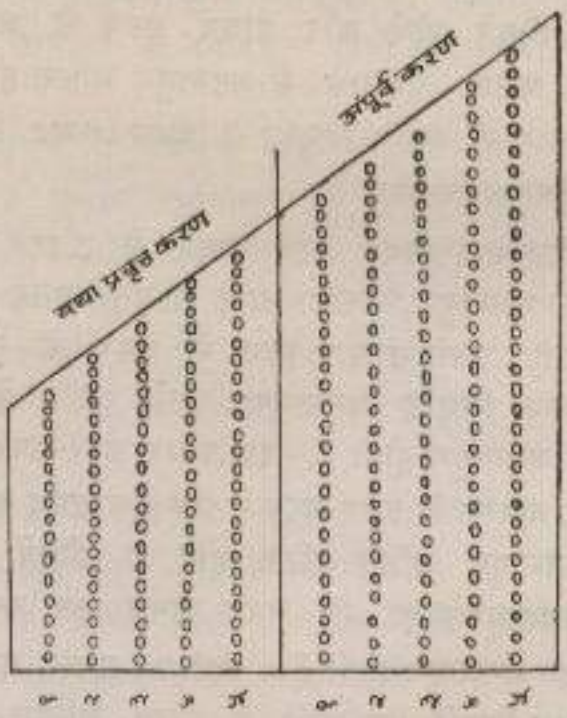

अपूर्वकरण—इस करण में यथाप्रवृत्तकरण के समान प्रत्येक समय असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और पूर्व-पूर्व समय से उत्तर-उत्तर के समय में कुछ अधिक-अधिक अध्यवसाय होते हैं। इसलिए यहाँ भी तिर्यंग्-मुखी और ऊर्ध्वमुखी इस तरह दो प्रकार की विशुद्धि होती है। जिनका स्वरूप यथाप्रवृत्तकरण में कहे गये अनुरूप जानना चाहिए। परन्तु यथाप्रवृत्तकरण में पूर्व-पूर्व समय के अमुक-अमुक अध्यवसाय जैसे उत्तरोत्तर के समय में होते हैं, उसी प्रकार से इस करण में नहीं होते हैं, परन्तु पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तर समय में सभी अध्यवसाय नवीन ही होते हैं। जिससे अपूर्वकरण के प्रथम समय में जो एक सौ अध्यवसाय होते हैं उनसे नितान्त भिन्न और अनन्तगुण विशुद्धि वाले दूसरे समय में एक सौ पांच, उनसे नितान्त भिन्न अनन्तगुण विशुद्धि वाले तीसरे समय में एक सौ दस, चौथे समय में एक सौ पन्द्रह, पांचवें समय में एक सौ बीस इस प्रकार यावत्

बढ़ते-बढते इस करण के अन्तिम समय रूप पच्चीसवें समय में दो सौ बीस अध्यवसाय होते हैं।

यहाँ भी प्रत्येक समय के अध्यवसायों में यथाप्रवृत्तकरण के समान सूक्ष्म दृष्टि से असंख्य प्रकार की और स्थूल दृष्टि से छह प्रकार की विशुद्धि सम्बन्धी तरतमता होती है और उससे ही यह अध्यवसाय षट्स्थान वृद्ध अथवा षट्स्थान पतित कहलाते हैं।

इस करण में प्रत्येक समय अध्यवसाय नितान्त नये होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय के जो एक सौ अध्यवसाय हैं, उनमें के द्वितीयादि अध्यवसायों की अपेक्षा प्रथम अध्यवसाय की विशुद्धि अत्यन्त अल्प है, फिर भी यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि की अपेक्षा तो अनन्तगुण होती है और अपूर्वकरण के प्रथम समय के प्रथम अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट अन्तिम एक सौवें अध्यवसाय की विशुद्धि अनन्तगुण है और उससे प्रथम समय के एक सौवें अध्यवसाय की विशुद्धि से दूसरे समय की जघन्य, उससे उसी दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है, उससे तीसरे समय की जघन्य और उससे भी उसी तीसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण है, इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय की जघन्य और उसके बाद उसी समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होने से द्विचरम समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से पच्चीसवें समय रूप चरम समय की जघन्य और उससे उस पच्चीसवें समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुण होती है तथा इस करण में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर के समयों में पूर्व में किसी समय न हुए हों ऐसे अनन्तगुण विशुद्धि वाले प्रवर्धमान परिणाम होते हैं, जिससे इस अपूर्वकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और अपूर्व स्थितिबन्ध ये चार पदार्थ पूर्व में किसी समय नहीं किये हों ऐसे नवीन होते हैं, जिससे इसका नाम अपूर्वकरण यथार्थ है।

इन स्थितिघात आदि का स्वरूप सुगम है। स्थितिघात में प्रति समय स्थिति का घात होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय में जितनी कर्म की स्थिति सत्ता होती है उससे उसी करण के चरम समय में संख्यातगुण हीन अर्थात् संख्यातवें भाग प्रमाण कर्म की स्थिति सत्ता रहती है।

इसी प्रकार से रसघात के लिए समझना चाहिए किन्तु इतना विशेष

है कि अपूर्वकरण में हजारों स्थितिघात होते हैं और इन एक-एक स्थितिघात में हजारों रसघात होते हैं।

गुणश्रेणि में प्रथम समय से अपवर्तनाकरण द्वारा स्थितिघात कर जिन-जिन स्थितियों का नाश करता है, उन स्थितिस्थानों में रहे हुए दलिक शीघ्र क्षय करने के लिए प्रत्येक समय में असंख्यात गुणाकार रूप से ऊपर से नीचे उतारे जाते हैं और जिस-जिस समय जितने-जितने दलिक उतारे जाते हैं, उन-उन दलिकों को उसी समय रसोदयवाली प्रकृतियों में उदय समय से लेकर और अनुदित सत्तागत प्रकृतियों में उदयावलिका से ऊपर के प्रथम समय से लेकर अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के काल से कुछ अधिक काल तक के प्रत्येक समय में पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर ऊपर-ऊपर के समय में असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित किया जाता है, अर्थात् बंधादि के समय में हुई निषेक रचना के दलिकों के साथ भोगने योग्य किये जाते हैं।

अपूर्व स्थितिबंध में जो नवीन स्थितिबंध होता है वह पूर्व स्थितिबंध की अपेक्षा पल्योपम के संख्यातवें भाग न्यून होता है। इस प्रकार से अपूर्वकरण के चरम समय पर्यन्त होता है।

स्थितिघात और स्थितिबंध एक साथ प्रारम्भ होते हैं और साथ ही पूर्ण होते हैं। अर्थात् एक स्थितिघात और एक स्थितिबंध का काल समान है। इसलिये अपूर्वकरण में जितने स्थितिघात होते हैं, उतने ही अपूर्व स्थितिबंध भी होते हैं।

अनिवृत्तिकरण—इस करण में एक साथ प्रवेश करने वाले जीवों के किसी भी एक समय में अध्यवसायों में फेरफार नहीं होता है, जिससे त्रिकालवर्ती अनेक जीवों की अपेक्षा भी विवक्षित एक-एक समय में समान अध्यवसाय होने से एक-एक अध्यवसाय ही होता है। अतएव इस करण में जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसायस्थान होते हैं। इस कारण इन अध्यवसायों की आकृति मोतियों की माला के समान होती है।

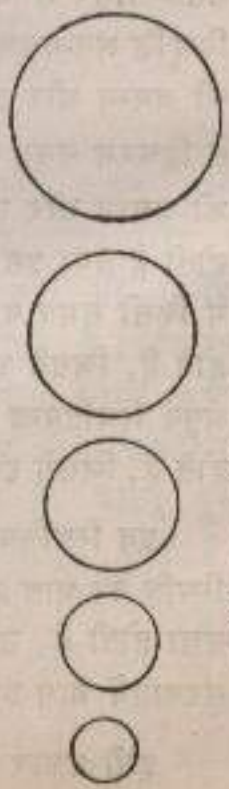

अनि. करण के अध्यवसाय स्थान

इस करण में तिर्यग्मुखी विशुद्धि नहीं होती है परन्तु पूर्व-पूर्व समय के अध्यवसाय की विशुद्धि की अपेक्षा उत्तरोत्तर समय के अध्यवसाय की विशुद्धि अनन्तगुण होती है और इस करण में भी अपूर्वकरणवत् स्थितिघात आदि चार पदार्थ प्रवर्तमान रहते हैं।

इस अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल के असत् कल्पना से सौ समय मानें और उनके दस-दस समय के दस भाग की कल्पना करके बहुत से संख्यात भाग अर्थात् नव्वें समय प्रमाण नौ भाग जितना काल जाये और दस समय प्रमाण एक संख्यातवाँ भाग जितना काल शेष रहे तब सत्ता में विद्यमान जो मिथ्यात्व की स्थिति है उसको उदय-समय से अर्थात् इक्या-नवैं समय से लेकर अनिवृत्तिकरण के शेष रहे संख्यातवें भाग प्रमाण अर्थात् इक्यानवें से सौ तक के दस समय प्रमाण नीचे रख उसके (सौ समय के) ऊपर एक अन्तर्मुहूर्त काल में भोगने योग्य मिथ्यात्व के दलिकों को वहाँ से दूर करने की क्रिया शुरू करता है जिसे अन्तरकरण की क्रिया कहते हैं।

इस क्रिया द्वारा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान में से मिथ्यात्व के दलिक हटाकर अर्थात् दूर कर नीचे और ऊपर इस तरह दोनों ओर डालकर वह अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान विशेष रूप से मिथ्यात्व के दलिक बिना का करता है। उन अन्तरकरण के दलिकों के साथ गुणश्रेणि का भी ऊपर का संख्यातवां भाग छिन्न-भिन्न होकर दूर हो जाता है। जिस समय से अन्तर-करण क्रिया प्रारम्भ करता है उस समय से मिथ्यात्व की गुणश्रेणि अनिवृत्ति-करण के चरम तक ही होती है, परन्तु उसके उपर के समयों में नहीं होती है और अन्तरकरण क्रिया समाप्त होने के बाद के समय से द्वितीय स्थिति-गत मिथ्यात्व के दलिकों को असंख्यात गुणाकार रूप से उपशमित करते अन्तमुहूर्त में सम्पूर्ण उपशान्त करता है।

अन्तरकरण क्रिया काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होने पर भी वह काल अनिवृत्तिकरण के शेष रहे संख्यातवें भाग की अपेक्षा भी अत्यल्प होता है। जिससे अन्तरकरण की क्रिया पूर्ण होने के बाद भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अनि-वृत्तिकरण का काल बाकी रहता है। जितने काल में एक स्थितिघात करता है उतने ही काल में अन्तरकरण की क्रिया भी करता है। जिससे अन्तरकरण क्रिया का अन्तर्मुहूर्त आवलिका के एक संख्यातवें भाग जितना छोटा (हीन) होता है। अन्तरकरण क्रिया पूर्ण होने के बाद अन्तरकरण किया

गया होने से सत्तागत मिथ्यात्व की स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। उनमें एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तरकरण की नीचे की स्थिति को छोटी अथवा प्रथम स्थिति और दूसरी सत्तागत सम्पूर्ण स्थिति प्रमाण अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति को बड़ी अथवा दूसरी स्थिति कहते हैं।

अनिवृत्तिकरण की अथवा मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण रहे तब मिथ्यात्व की गुणश्रेणि होना रुक जाता है और एक आवलिका शेष रहे तब स्थितिघात और रसघात होना भी रुक जाता है। अर्थात् उस समय से मिथ्यात्व का स्थितिघात और रसघात नहीं होता है एवं मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण शेष रहे तब अन्तरकरण के ऊपर रहे मिथ्यात्व के दलिकों को उदीरणा प्रयोग द्वारा उदयावलिका में प्रक्षिप्त कर उदयावलिका में वर्तमान दलिकों के साथ भोगने योग्य नहीं करता जिससे आगाल का विच्छेद होता है और प्रथम स्थिति की एक आवलिका शेष रहे तब उदीरणा का भी विच्छेद होता है।

जब-जब जिन-जिन प्रकृतियों का अन्तरकरण होता है तब अन्तरकरण होने के पश्चात् उदीरणा प्रयोग द्वारा अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में से दलिकों को उदयावलिका में प्रक्षिप्त कर उदयप्राप्त दलिकों के साथ भोगने योग्य करता है। इस उदीरणा का ही पूर्व पुरुषों ने आगाल ऐसा विशेष नामकरण किया है।

अनिवृत्तिकरण की समाप्ति के साथ ही अन्तरकरण के नीचे की मिथ्यात्व की छोटी स्थिति भी भोगी जाकर सत्ता में से पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती है जिससे अनिवृत्तिकरण की समाप्ति के बाद के प्रथम समय में ही आत्मा अन्तरकरण में प्रवेश करती है और उस अन्तरकरण में मिथ्यात्व के दलिक न होने से बंजर भूमि को प्राप्त कर जैसे दावानल भी बुझ जाता है, उसी प्रकार अन्तरकरण रूप बंजर भूमि को प्राप्त कर अनादि-कालीन मिथ्यात्व रूप दावानल भी बुझ जाता है। जिससे अन्तरकरण में प्रथम समय में ही आत्मा पूर्व में किसी भी समय प्राप्त नहीं किये मोक्ष रूपी वृक्ष के बीज समान अपूर्व आत्महित स्वरूप उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति करती है और उसी अन्तरकरण में उपशम सम्यक्त्व के साथ कोई आत्मा देशविरति अथवा सर्वविरति भी प्राप्त करती है।

अनिवृत्तिकरण के चरम समयवर्ती यानि मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति के चरम समयवर्ती मिथ्यादृष्टि अथवा उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रथम समय में अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में विद्यमान सत्तागत मिथ्यात्व के दलिकों को रस के भेद से तीन प्रकार के करता है। कितने ही दलिकों को एकस्थानिक और जघन्य द्विस्थानिक रस वाले वाले कर शुद्ध पुंजरूप बनाता है जो सम्यक्त्वमोहनीय और देशघाति कहलाता है। कितने ही दलिकों को द्विस्थानिक रस वाले बनाकर अर्ध शुद्ध पुंज रूप करता है, जो मिश्रमोहनीय और सर्वघाति कहलाते हैं और उनके सिवाय शेष दलिक उत्कृष्ट द्विस्थानक, त्रिस्थानक और चतुःस्थानक रस वाले होते हैं, जो अशुद्ध पुंज रूप मिथ्यात्वमोहनीय और सर्वघाति हैं।

अन्तरकरण के प्रथम समय से अन्तरकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल से संख्यातवें भाग पमाण अन्तर्मुहूर्त तक प्रत्येक समय मिथ्यात्व के दलिकों को गुणसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय में अनुक्रम से उन संख्यात गुणाकार रूप से संक्रमित करता है। उसमें प्रथम समय सम्यक्त्वमोहनीय में अल्प और मिश्रमोहनीय में उससे असंख्यातगुण संक्रमित करता है। प्रथम समय में मिश्रमोहनीय में जितने संक्रमित करता है, उससे दूसरे समय में सम्यक्त्वमोहनीय में असंख्यातगुण और उससे उसी दूसरे समय में मिश्रमोहनीय में असंख्यातगुण संक्रमित करता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय में मिश्रमोहनीय में जितने संक्रमित करता है, उससे उत्तर-उत्तर के समय में सम्यक्त्वमोहनीय में और मिश्र-मोहनीय में अनुक्रम से एक-एक से असंख्यातगुण संक्रमित करता है। मिथ्यात्व की तरह मिश्र को भी असंख्यात गुणाकार रूप से सम्यक्त्व-मोहनीय में संक्रमित करता है।

इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त तक गुणसंक्रम होता है। उसके बाद अन्तरकरण के शेष रहे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष काल में मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का विध्यात संक्रम होता है। जब तक इन दो प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है, तब तक समय-समय अनन्तगुण विशुद्ध परिणाम होने से मिथ्यात्व रहित शेष सत्ता में विद्यमान कर्म प्रकृतियों का स्थितिघात, रसघात और गुणश्रेणि होती है और गुणसंक्रम के साथ स्थितिघातादि भी विच्छिन्न होते हैं।

इस अन्तरकरण का कुछ अधिक आवलिका प्रमाण काल शेष रहे तब

अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में से दर्शनमोहनीयत्रिक के दलिक उतार कर अन्तरकरण के अन्दर अन्तिम एक आवलिका जितने काल में प्रथम समय में प्रभूत और उसके बाद के उत्तर-उत्तर समयों में विशेष हीन-हीन दलिक स्थापित करता है और अध्यवसायानुसार तीन में से किसी भी पुंज का उदय करता है जिससे यदि सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो तो आत्मा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि, मिश्रमोहनीय का उदय हो तो मिश्रदृष्टि और मिथ्यात्वमोहनीय का उदय हो तो मिथ्यादृष्टि होती है, परन्तु अन्तरकरण का जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका प्रमाण काल शेष रहे तब किसी आत्मा को अनन्तानुबंधि कषाय का उदय हो तो वह आत्मा सासादन सम्यक्त्व प्राप्त कर अन्तरकरण जितना काल रहे, उतने काल तक सासादन भाव में रह बाद में अवश्य मिथ्यात्व गुणस्थान में जाती है।

अन्तरकरण में जिस आत्मा को अनन्तानुबंधि कषाय का उदय होता है, वह आत्मा अन्तरकरण का कुछ अधिक आवलिका काल बाकी रहे तब अन्तरकरण की ऊपर की स्थिति में से दलिक अन्तरकरण में लाकर आवलिका प्रमाण काल में क्रमबद्ध स्थापित नहीं करती है। क्योंकि अन्तरकरण के अन्दर किसी पुंज का उदय नहीं होता है और अन्तरकरण पूर्ण होने के बाद तीनों पुंज तैयार होने से उनमें से मिथ्यात्व का ही उदय होता है। यह अन्तरकरण का काल मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल से बहुत अधिक होता है। □

परिशिष्ट : ४

अनन्तानुबन्धि की विसंयोजना एवं उपशमना सम्बन्धी विधि

पंचसंग्रहकार एवं कर्मप्रकृतिकार आदि कतिपय आचार्यों का मंतव्य है कि उपशम श्रेणि करने वाले जीवों को पहले अनन्तानुबंधि की विसंयोजना होती है, उपशमना नहीं होती। परन्तु कुछ आचार्यों का मत है—अनन्तानुबंधि की उपशमना करके भी उपशम श्रेणि हो सकती है। इस प्रकार से अनन्तानुबंधि कषाय के विषय में दो दृष्टिकोण हैं। जिनका यथाक्रम से स्पष्टीकरण करते हैं।

अनन्तानुबंधि की विसंयोजना

चारों गति के सर्वपर्याप्तियों से पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय क्षयोपशम सम्यक्त्वी यथासम्भव चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीव उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में बताये गये यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करते हैं। परन्तु यहाँ अनन्तानुबंधि का बंधन होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय से अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क का उद्वलनानुविद्ध गुणसंक्रम प्रारम्भ होता है। जिससे बध्यमान शेष मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में प्रतिसमय असंख्यात गुणाकार रूप में अनन्तानुबंधि के दलिकों का संक्रम होता है तथा अनन्तानुबंधि का उपशम नहीं होने से उनका अन्तरकरण नहीं होता है एवं अन्तरकरण के अभाव में अन्तरकरण की प्रथम और द्वितीय इस तरह दो स्थितियाँ भी नहीं होती हैं परन्तु अनिवृत्तिकरण के काल का एक संख्यातवां भाग शेष रहे तब नीचे एक उदयावलिका को छोड़कर उसके सिवाय सम्पूर्ण अनन्तानुबंधि का क्षय हो जाता है और शेष रही उदयावलिका को भी स्तिबुक संक्रम द्वारा वेद्यमान मोहनीय कर्म की प्रकृतियों में संक्रमित कर अनन्तानुबंधि की सत्ता रहित होता है।

तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद अनिवृत्तिकरण के अन्त में शेष कर्मों का भी स्थितिघात, रसघात एवं गुणश्रेणि होना बन्द हो जाता है जिससे आत्मा स्वभावस्थ होती है।

यह अनन्तानुबंधिकषायचतुष्क की विसंयोजना का रूपक है। अब उपशमना विधि का निर्देश करते हैं।

अनन्तानुबंधि की उपशमना

क्षयोपशम सम्यक्त्वी चौथे से सातवें तक चार में किसी भी गुणस्थान में वर्तमान मनुष्य उपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के प्रसंग में बताये गये अनुसार करण काल के पूर्व अन्तर्मुहूर्त तक योग्यतायें प्राप्त करने के बाद यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करता है, परन्तु यहां अनन्तानुबंधि का बंधन होने से अपूर्वकरण के प्रथम समय से गुणसंक्रम भी होता है तथा अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग जायें और एक भाग शेष रहे तब अनन्तानुबंधि का उदय न होने से एक उदयावलिका प्रमाण स्थिति शेष रखकर उसके ऊपर एक स्थितिबंध के काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्तकाल में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान में से अनन्तानुबंधि के दलिक दूर करने की क्रिया करता है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में भोगने योग्य अनन्तानुबंधि के दलिकों को वहाँ से लेकर बध्यमान स्वजातीय प्रकृतियों में संक्रमित करता है और उतना स्थान दलिक रहित करता है तथा उदयावलिका प्रमाण प्रथम स्थिति को वेद्यमान प्रकृतियों में स्तिबुक संक्रम द्वारा संक्रमित कर सत्ता में से क्षय करता है।

जिस समय अन्तरकरण की क्रिया पूर्ण होती है, उसके बाद के समय से द्वितीय स्थिति में विद्यमान सत्तागत अनन्तानुबंधि के दलिकों को प्रत्येक समय असंख्यातगुण उपशमित करते अन्तर्मुहूर्तकाल में सम्पूर्ण उपशांत करता है जिससे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशांतता के काल में संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना इन छह में से कोई भी करण नहीं लगता है एवं प्रदेशोदय या रसोदय भी नहीं होता है। □

परिशिष्ट : ५

दर्शनत्रिक की उपशमना विधि

वैमानिक देव की आयु बांधने के बाद यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उपशम श्रेणी कर सकता है और जिसने वैमानिक देव की आयु का बंध कर लिया है अथवा किसी भी गतिप्रायोग आयु को बांधे बिना क्षयोपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणि कर सकता है परन्तु अन्य जीव नहीं कर सकते हैं और यदि क्षयोपशम सम्यक्त्वी उपशम श्रेणि करे तो चारित्र-मोहनीय का उपशम करने से पूर्व चौथे से सातवें तक चार में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले अनन्तानुबंधि की विसंयोजना अथवा मतान्तर से उपशमना करके भी छठे अथवा सातवें गुणस्थान में दर्शनत्रिक की उपशमना करते हैं।

दर्शनत्रिक की उपशमना करने पर भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करते हैं। अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का सम्यक्त्वमोहनीय में गुणसंक्रम भी प्रवर्तित होता है और अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग जायें और एक भाग शेष रहे तब तीनों दर्शनमोहनीय का अन्तरकरण करते हैं परन्तु अनुदित मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय की प्रथम स्थिति आवलिका प्रमाण और उदयप्राप्त सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथम स्थिति शेष रहे अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग जितने अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करते हैं।

मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय की आवलिका प्रमाण प्रथम स्थिति स्तिबुक संक्रम से सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित कर और सम्यक्त्वमोहनीय की प्रथम स्थिति रसोदय से अनुभव कर सत्ता में से नष्ट करते हैं। तीनों प्रकृतियों के अन्तरकरण में रहे हुए दलिकों को वहां से दूर कर सम्यक्त्व की प्रथम स्थिति में प्रक्षिप्त कर भोग कर क्षय करते हैं एवं तीनों के द्वितीय (अन्तरकरण की ऊपर की) स्थिति में वर्तमान दलिकों को असंख्यात

गुणाकार रूप से उपशमित करते हैं और अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय का जो गुणसंक्रम प्रारम्भ हुआ था वह अन्तरकरण में प्रवेश करने के बाद भी अन्तमुहूर्त तक चालू रहता है। तत्पश्चात् अन्तरकरण में ही इन दोनों प्रकृतियों का विध्यात संक्रम आरम्भ होता है और शेष सर्व स्वरूप पहले की तरह ही समझना चाहिये।

इस प्रकार दर्शनत्रिक की उपशमना करके उपशम सम्यक्त्वी अथवा क्षायिक सम्यक्त्वी चारित्रमोहनीय को उपशमित करने का प्रयत्न करते हैं।

□□

परिशिष्ट : ६

दर्शनत्रिक क्षपणा की विधि

उपशम सम्यक्त्वी जैसे दर्शनमोहनीयत्रिक की उपशमना करके उपशम श्रेणि करता है, उसी प्रकार दर्शनमोहत्रिक का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी उपशम श्रेणि करता है। अतएव यहाँ दर्शनमोहत्रिक की क्षपणा की विधि का संक्षेप में दिग्दर्शन कराते हैं।

यदि इस काल और इस क्षेत्र की अपेक्षा आदिनाथ भगवान के केवलज्ञानोत्पत्ति के समय से जम्बू स्वामी के केवलज्ञानोत्पत्ति के समय तक और सामान्य से सर्व क्षेत्रों की अपेक्षा विचार करें तो जिस काल में केवलज्ञान उत्पन्न हो सके उस काल में प्रथम संहननी, कम से कम आठ वर्ष की आयुवाला चौथे से सातवें तक किसी भी गुणस्थानवर्ती क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य यथाप्रवृत्त आदि तीन करण करके दर्शनत्रिक का क्षय कर सकता है।

यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों का स्वरूप जैसा पूर्व में बताया गया है, तदनुरूप यहां भी समझना चाहिये परन्तु अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में जो विशेषता है, उसका यहाँ संकेत करते हैं।

प्रथम गुणस्थान में विशुद्धि अल्प होने से जितने काल और जितने प्रमाण में स्थितिघातादि होते थे उसकी अपेक्षा यहाँ अनन्तगुण विशुद्धि होने से छोटे अन्तर्मुहूर्त में और बृहत् प्रमाण में स्थितिघातादि करता है, एवं अपूर्वकरण के प्रथम समय से मिथ्यात्व और मिश्र मोहनीय के उद्वलना एवं गुण यह दो संक्रम होते हैं। परन्तु दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का परस्पर संक्रम नहीं होने से सम्यक्त्वमोहनीय का केवल उद्वलनासंक्रम होता है और स्थितिघात से द्वितीय स्थिति में से उतारे गये दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में ही उदयावलिका के प्रथम समय से गुणश्रेणि पर्यन्त भाग तक असंख्यात गुणाकार और पश्चात् विशेष हीन-हीन स्थापित करता है।

इस प्रकार अपूर्वकरण में स्थितिघात आदि पदार्थ प्रवर्तित होते हैं जिससे अपूर्वकरण के प्रथम समय में आयु के बिना शेष कर्मों की जितनी स्थितिसत्ता और जितना नवीन स्थितिबंध होता है, उसकी अपेक्षा इस करण के चरम समय में संख्यातगुण हीन अर्थात् संख्यातभाग प्रमाण स्थितिसत्ता और नवीन स्थितिबंध होता है।

इसी प्रकार अनिवृत्तिकरण में भी स्थितिघात आदि पदार्थ प्रवर्तित होते हैं। परन्तु इस करण से दर्शनत्रिक का सम्पूर्ण क्षय करना प्रारम्भ होने से इन तीनों प्रकृतियों के स्थितिघात आदि अत्यधिक बृहत् प्रमाण में होते हैं, एवं अनिवृत्तिकरण के प्रथम समय से दर्शनत्रिक में देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना इन तीन में से कोई भी करण नहीं लगते हैं, अर्थात् दर्शनत्रिक के सत्तागत दलिकों में इस करण के प्रथम समय से देशोपशमना, निद्धत्ति तथा निकाचना नहीं होती है।

इस करण में हजारों स्थितिघात व्यतीत होने के बाद असंज्ञी पंचेन्द्रिय की स्थितिसत्ता जितनी दर्शनत्रिक की सत्ता रहती है। तत्पश्चात पुनः पुनः हजारों स्थितिघात होने के बाद क्रमशः चतुरिन्द्रिय जीवों जितनी, त्रीन्द्रिय जीवों के बराबर, द्वीन्द्रिय जीवों के बराबर और उसके बाद पुनः हजारों स्थितिघात होने के अनन्तर पल्योपम के संख्यातवें भाग प्रमाण दर्शनत्रिक की स्थितिसत्ता रहती है।

तत्पश्चात दर्शनत्रिक की जितनी स्थितिसत्ता है उसके संख्यात भाग करके एक संख्यातवां भाग शेष रख बाकी के संख्यात भागों का नाश करता है। पुनः शेष रहे संख्यातवें भाग के संख्यात भाग कर एक संख्यातवां भाग रख शेष समस्त भागों का नाश करता है। इस प्रकार बाकी रहे हुए संख्यातवें भाग के हजारों बार संख्यात-संख्यात भाग करके और एक-एक संख्यातवां भाग रख शेष सभी संख्यात भागों का नाश करता है।

इस तरह से हजारों स्थितिघात जाने के बाद मिथ्यात्वमोहनीय की जो स्थितिसत्ता है उसके असंख्यात भाग करके उनमें से एक असंख्यातवां भाग रख शेष सभी असंख्यात भागों का नाश करता है। पुनः शेष रहे एक असंख्यातवें भाग के असंख्यात भाग कर एक असंख्यातवां भाग बाकी रख शेष समस्त असंख्यात भागों का नाश करता है। इस प्रकार शेष रहे मिथ्यात्व के एक-एक असंख्यातवें भाग के असंख्यात-असंख्यात भाग कर और उनमें से एक-एक

असंख्यातवां भाग बाकी रख शेष सभी असंख्यात भागों का नाश करता है। इस तरह बहुत से स्थितिघात होने से मिथ्यात्व की स्थिति मात्र एक उदयावलिका प्रमाण रहती है और शेष सभी का नाश हो जाता है।

जिस समय से सत्तागत मिथ्यात्व की स्थिति के असंख्यात भाग कर एक असंख्यातवां भाग रख असंख्यात-असंख्यात भागों का नाश करने की शुरुआत की उस समय से मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की सत्तागत स्थिति के संख्यात भाग कर एक-एक संख्यातवां भाग रख शेष सभी संख्यात भागों का नाश करता है। इस प्रकार मिश्र तथा सम्यक्त्व मोहनीय के भी बहुत से स्थितिघात व्यतीत होते हैं और जब मिथ्यात्व की स्थिति उदयावलिका प्रमाण रहती है तब मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है।

द्विचरम स्थिति खंड तक स्थितिघात से उतारे हुए मिथ्यात्व के दलिकों को नीचे स्व में और मिश्र एवं इसी प्रकार सम्यक्त्व में तथा मिश्र मोहनीय के स्थितिघात से उतारे गये दलिकों को स्व में और सम्यक्त्व में रखता है एवं चरम स्थितिघात से उतारे हुए मिथ्यात्व के दलिकों को मिश्र तथा सम्यक्त्व मोहनीय में और मिश्रमोहनीय के दलिकों को सम्यक्त्वमोहनीय में डालता है तथा सम्यक्त्वमोहनीय के दलिकों को अपने उदय-समय से गुण-श्रेणि के क्रम से स्थापित करता है।

मिथ्यात्व की उदयावलिका को स्तिबुकसंक्रम द्वारा सम्यक्त्वमोहनीय में संक्रमित करके और भोग कर मिथ्यात्व की स्थिति का संपूर्ण नाश करता है।

जिस समय मिथ्यात्वमोहनीय की मात्र उदयावलिका जितनी स्थिति रहती है, उस समय से सत्तागत मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय की स्थिति के असंख्यात भाग कर एक असंख्यातवां भाग रख शेष सभी असंख्यात भागों का नाश करता है और बाकी रहे एक असंख्यातवें भाग के बार-बार असंख्यात भाग कर तथा एक-एक असंख्यातवां भाग रख शेष असंख्यात भागों का नाश कर-कर के बहुत से स्थितिघात होने के बाद मिश्रमोहनीय की स्थितिसत्ता उदयावलिका प्रमाण रखता है और उस उदयावलिका को भी स्तिबुकसंक्रमण से सम्यत्वमोहनीय में संक्रमित करके सत्ता में से दूर करता है।

जिस समय मिश्र मोहनीय की उदयावलिका बाकी रहती है, उस समय सम्यक्त्वमोहनीय की स्थिति सत्ता आठ वर्ष प्रमाण रहती है। उस समय से उस आत्मा के विघ्नरूप सर्वघाती मिथ्यात्व और मिश्र का सर्वथा क्षय हुआ है और सम्यक्त्वमोहनीय का भी अन्तर्मुहूर्त में अवश्य क्षय होने वाला होने से निश्चय नय के मत अनुसार वह आत्मा दर्शनमोह की क्षपक कहलाती है। जिस समय सम्यक्त्वमोहनीय की आठ वर्ष प्रमाण स्थितिसत्ता रहती है, उस समय से सम्यक्त्वमोहनीय के द्विचरम स्थितखंड तक अन्तर्मुहूर्त में अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले अनेक स्थितिखंड उत्कीर्ण कर-करके नाश करता है।

ये प्रत्येक स्थितिखंड अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले होने पर भी अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात प्रकार होने से पहले स्थितिखंड की अपेक्षा दूसरा स्थितिखण्ड असंख्यातगुण बड़ा अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होता है। इस प्रकार द्विचरम स्थितिखंड तक समस्त स्थितिखंड पूर्व-पूर्व के स्थितिखण्ड की अपेक्षा असंख्यात बड़े-बड़े अन्तर्मुहूर्त प्रमाण वाले होते हैं।

प्रत्येक स्थितिखण्ड के दलिकों को नीचे उतार कर उदयसमय से गुण-श्रेणि के चरम समय तक पूर्व-पूर्व के समय से उत्तरोत्तरवर्ती समयों में असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है और गुणश्रेणि के चरम समय ऊपर के प्रथम समय से जिन स्थितिखण्डों का घात करता है, उनके नीचे के चरम स्थितिस्थान तक विशेष हीन-हीन स्थापित करता है, परन्तु जिस स्थितिखण्ड का घात करता है, उन स्थितिस्थानों में स्थापित नहीं करता है।

द्विचरम स्थितिखण्ड से चरम स्थितिखण्ड संख्यातगुण बड़ा होता है और चरम स्थितिखण्ड के साथ गुणश्रेणि का भी शीर्ष स्थानीय अन्तिम संख्यातवाँ भाग नष्ट हो जाता है। गुणश्रेणि के नष्ट होने पर अन्तिम संख्यातवें भाग की अपेक्षा भी चरम स्थितिखण्ड संख्यातगुण बड़ा है। चरम स्थितिखण्ड के दलिकों को वहाँ से उतारकर उनके साथ अर्थात् चरम स्थितिखण्ड के साथ जिस गुणश्रेणि का भाग नष्ट नहीं होता है, उस भाग के चरम समय तक उदयसमय से लेकर असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित करता है। इस तरह से चरम स्थितिखण्ड का भी नाश करता है और इस चरम स्थिति खण्ड का नाश हो तब क्षपक कृतकरण कहलाता है।

अनिवृत्तिकरण में चरम स्थितिखण्ड का नाश होने के बाद सम्यक्त्व-

मोहनीय का जो थोड़ा सा भाग अभी सत्ता में है उतना भाग सत्ता में हो और बद्धायु हो तो अनिवृत्तिकरण पूर्ण होने के बाद आयु पूर्ण हो जाये तो काल करके चार में से किसी भी गति में जाकर सत्ता में शेष रहे सम्यक्त्व मोहनीय का शेष भाग उदय-उदीरणा से भोग कर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है एवं पूर्व में कृतकरण तक शुक्ल लेश्या वाला था परन्तु उसके बाद परिणामों के अनुसार किसी भी लेश्यावाला होता है। इसलिए क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने का प्रारम्भक मनुष्य होता है परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व की उत्पत्ति की पूर्णता चारों गति में हो सकती है।

अबद्धायुष्क अथवा वैमानिक देव का, प्रथम तीन नरक का एवं युगलिक मनुष्य तिर्यंच का आयु बांधा हुआ क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है परन्तु भवनपति आदि देवनिकाय त्रय का, चौथे आदि नरक का एवं संख्यात वर्ष के मनुष्य-तिर्यंच का आयु बांधे हुए जीव क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

यदि अबद्धायुष्क क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो दर्शनत्रिक का क्षय करने के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही क्षपक श्रेणि करके केवलज्ञान प्राप्त करता है, जिससे वह चरम शरीरी होता है और देवायु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करने वाला दर्शनत्रिक का क्षय करने के बाद उपशम श्रेणि कर सकता है परन्तु शेष आयुओं को बाँधने के बाद यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह जीव उपशम श्रेणि भी नहीं कर सकता है।

देव अथवा नरक आयु बांधने के पश्चात यदि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो जिस भव में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया है वह मनुष्य भव, दूसरा देव अथवा नरक भव करके तीसरे भव में मनुष्य होकर मोक्ष में जाता है। परन्तु यदि तीसरे भव में मनुष्य होने पर भी वहाँ काल या क्षेत्र के प्रभाव से मोक्ष प्राप्ति की सामग्री न मिल सके तो वहाँ देवायु बांध कर चौथा भव देव का कर मनुष्य में आकर कोई जीव पांचवें भव में भी मोक्ष में जाता है और यदि युगलिक मनुष्य या तिर्यंच की आयु बांधने के बाद क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह पहला मनुष्य का भव, दूसरा युगलिक मनुष्य या तिर्यंच का भव, युगलिक काल करके अवश्य देवलोक में जाते हैं अतः तीसरा देव का भव कर चौथे भव में मनुष्य होकर मोक्ष में जाता है।

□□

चारित्रमोहनीय की उपशमना का स्वामित्व

संक्लिष्ट परिणामों का त्याग कर अनन्तगुण विशुद्धि में वर्तमान चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में से किसी भी एक गुणस्थान मे वर्तमान क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करता है। चारित्रमोहनीय का उपशम नौवें-दसवें गुणस्थान में ही होता है, जिससे चारित्रमोहनीय की उपशमना का प्रयत्न करती आत्मा देशविरति प्राप्त करके अथवा बिना करे किन्तु सर्वविरति प्राप्त करने के अनन्तर नौवें और दसवें गुणस्थान में जाकर चारित्रमोहनीय का उपशम करती है।

पांच अणुव्रतों में से कोई एक अणुव्रत ग्रहण करे वह जघन्य, दो, तीन यावत् पांचों अणुव्रत ग्रहण करे वह मध्यम और संवासानुमति को छोड़कर शेष पाप व्यापार का त्याग करे वह उत्कृष्ट देशविरत कहलाता है और इस संवासानुमति का भी त्याग कर दिये जाने पर सर्वविरत कहलाता है।

देशविरति प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि और सर्वविरति प्राप्त करने वाला अविरतसम्यग्दृष्टि अथवा देशविरत इन दोनों में से कोई भी होता है। देश-विरति और सर्वविरति प्राप्त करने के लिए यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण यह दो करण करता है। करणकाल के अन्तर्मुहूर्त के पहले भी प्रतिसमय अनन्तगुण विशुद्धयमान परिणामी आदि उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति में तीन करण के पहले बताई गई समस्त योग्यता वाला होता है और उसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक रहकर पूर्व में बताये गये स्वरूप वाले यथाप्रवृत्त और अपूर्वकरण करता है। परन्तु यहाँ अपूर्वकरण में गुणश्रेणि नहीं होती, इतनी विशेषता है।

मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का सर्वथा क्षय अथवा उपशम करना हो तब तीसरा अनिवृत्तिकरण भी होता है। परन्तु इन दो गुणों को प्राप्त करने पर मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का सर्वथा क्षय अथवा उपशम नहीं होता है, परन्तु देशविरति प्राप्त करने पर अप्रत्याख्यानावरण कषाय का और सर्वविरति प्राप्त करने पर प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है, जिससे तीसरा अनिवृत्तिकरण नहीं होता है, किन्तु अपूर्वकरण की समाप्ति के बाद पहले समय में ही आत्मा देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त करती है।

जिस समय यह दो गुण प्राप्त करती है उस समय से उदयावलिका से ऊपर के प्रथम समय से गुणश्रेणि करती है तथा गुण-प्राप्ति के समय से अन्तर्मुहूर्त काल तक अवश्य वर्धमान परिणाम वाली होने से पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में ऊपर से असंख्यातगुण दलिकों को अवतरित कर अन्तर्मुहूर्त काल तक में असंख्यात गुणाकार रूप में स्थापित करती है। तत्पश्चात् गुण-प्राप्ति के समय की अपेक्षा अथवा जिस समय गुणश्रेणि का विचार करते हैं, उससे पूर्व के समय की अपेक्षा किसी जीव को वर्धमान, किसी जीव को अवस्थित अर्थात् पूर्ववत् सदृश—समान, तुल्य और किसी जीव को हीयमान परिणाम भी होते हैं, जिससे गुणश्रेणि भी समान नहीं होती है। परन्तु वर्धमान परिणाम होने पर परिणामों के अनुसार ऊपर से प्रतिसमय असंख्यातभाग अधिक, संख्यातभाग अधिक, संख्यातगुण अधिक अथवा असंख्यातगुण अधिक दलिक उतरते हैं और यदि अवस्थित परिणाम हों तो ऊपर से प्रत्येक समय समान दलिक उतरते हैं और हीयमान परिणाम होने पर पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में परिणामानुसार ऊपर से असंख्यातभाग हीन, संख्यातभाग हीन, संख्यातगुण हीन अथवा असंख्यात-गुण हीन दलिक उतरते हैं।

जिस समय दलिक उतरते हैं, उसी समय अनुदयवती प्रकृतियों की उदयावलिका के ऊपर प्रथम समय से और रसोदयवती प्रकृतियों में उदयसमय से अन्तर्मुहूर्त काल तक के स्थानों में अनुक्रम से असंख्यात गुणाकार रूप से निक्षिप्त करता है। इस प्रकार जब तक देशविरति अथवा सर्वविरति रहे तब तक गुणश्रेणि भी चालू रहती है और सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त काल तक के समान स्थानों में दलिक रचना होती है।

जानबूझकर व्रतों का भंग निष्ठुर परिणाम बिना होता नहीं है, इससे जो जानबूझकर व्रतों का भंगकर इन दो गुणों से आत्मा नीचे उतरे तो पुनः यथाप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण करके ही इन दो गुणों को प्राप्त कर सकती है परन्तु, अनजान में प्रबल मोहनीय कर्म के उदय से जो आत्मायें अधोवर्ती गुणस्थानों में जाती हैं, उनके वैसे निष्ठुर परिणाम न होने से इन दो करणों को किये बिना भी पुनः देशविरति अथवा सर्वविरति प्राप्त हो सकती है।

□□

परिशिष्ट ८

चारित्रमोहनीय की सर्वोपशमना विधि का संक्षिप्त सारांश

चारित्रमोहनीय की उपशमना करने के लिये छठे सातवें गुणस्थान में हजारों बार गमनागमन करके आत्मा पूर्व में बताये गये यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों को करती है।

यथाप्रवृत्तकरण अप्रमतसंयत गुणस्थान में, अपूर्वकरण अपूर्वकरण गुणस्थान में और अनिवृत्तिकरण अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में करने से यह तीन गुणस्थान तीन करण रूप हैं। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में स्थितिघात आदि पदार्थ होते हैं। परन्तु अपूर्वकरण के प्रथम समय से सत्ता में वर्तमान सभी अशुभ प्रकृतियों का बध्यमान स्वजातीय प्रकृतियों में गुणसंक्रम होता है तथा अनिवृत्तिकरण सम्बन्धी विशेषता इस प्रकार है—

इस करण के प्रथम समय से सत्तागत सर्व कर्म प्रकृतियों के किसी भी दलिक में देशोपशमना, निद्धत्ति और निकाचना नहीं होती है—एवं अपूर्वकरण के प्रथम समय में आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की जो अन्तःकोड़ाकोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध होता है, उसकी अपेक्षा इस गुणस्थान में प्रथम समय में संख्यातगुण हीन अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध होता है अर्थात् संख्यातभाग प्रमाण होता है।

यद्यपि यहाँ सामान्य से स्थितिसत्ता और स्थितिबन्ध समान होता है, फिर भी बन्ध की अपेक्षा सत्ता बहुत अधिक होती है एवं सामान्य से सातों कर्म की सत्ता और बन्ध समान बतानें पर भी स्थिति के अनुसार सत्ता और स्थितिबन्ध में स्थितिघात आदि के द्वारा विविध प्रकार के परिवर्तन होते रहने से अन्त में मोहनीय कर्म का नवीन स्थितिबन्ध सबसे अल्प, उसकी अपेक्षा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन का असंख्यातगुण किन्तु

स्वस्थान में परस्पर समान, उनसे नाम गोत्र का असंख्यातगुण और स्वस्थान में परस्पर तुल्य और उनसे भी वेदनीय का स्थितिबंध असंख्यात-गुण होता है।

जिस समय सातकर्म का स्थितिबंध पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है उस समय से असंख्यात समयों में बंधे हुए सत्तागत दलिकों की ही उदीरणा होती है, परन्तु उससे पूर्व बंधे हुए सत्तागत दलिकों की उदीरणा नहीं होती है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म की कुल उत्तर-प्रकृतियों का देशघाति रस बंधता है। जिस-जिस समय जिस-जिस प्रकृति का देशघाति रस बंधता है, उसके पूर्व समय तक दोनों श्रेणियों (उपशम, क्षपक) में उस-उस प्रकृति का सर्वघाति रस भी बँधता था सिर्फ देशघाति नहीं, यह समझना चाहिए।

वीर्यान्तराय कर्म का देशघाति रसबंध होने के बाद संख्यात हजारों स्थितिघात व्यतीत होने पर अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क आदि बारह कषाय और नव नोकषाय इस तरह चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों की अन्तरकरण क्रिया आरम्भ होती है। उस अन्तरकरण क्रिया का काल एक स्थितिघात अथवा अपूर्व स्थितिबंध काल के समान अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल वाली अन्तरकरण क्रिया द्वारा एक जीव की अपेक्षा वेद्यमान चार संज्वलनकषाय में से एक कषाय और वेद्यमान तीन वेदों में से एक वेद इस प्रकार दो प्रकृतियों की प्रथमस्थिति श्रेणि में जब तक अपना-अपना उदय रहता है तब तक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और शेष उन्नीस प्रकृतियों की आवलिका प्रमाण और अनेक जीवों की अपेक्षा चार संज्वलन और तीन वेद की प्रथम स्थिति श्रेणि में अपना-अपना जब तक उदय रहता है तब तक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और शेष चौदह प्रकृतियों की उदयावलिका प्रमाण स्थिति रख, मध्य में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थान में रही हुई भोगने योग्य इक्कीस प्रकृतियों के दलिकों को वहाँ से दूर कर अन्यत्र स्थापित कर उनके साथ भोगने योग्य करता है।

जिस समय अन्तरकरण करने की क्रिया समाप्त होती है। उसके बाद के समय से यह सात पदार्थ प्रवर्तित होते हैं—

१ अभी तक मोहनीय कर्म का जो रस द्विस्थानक बंधता था। अब एक-स्थानक बंधता है।

२ मोहनीय कर्म का नवीन स्थितिबंध संख्यात वर्ष प्रमाण और उदय तथा उदीरणा भी संख्यात वर्ष प्रमाण होती है।

३ अभी तक जो बध्यमान प्रकृतियों की बंधावलिका व्यतीत होने के बाद उदीरणा होती थी परन्तु अब बध्यमान प्रत्येक प्रकृतियों की बंध समय से छह आवलिका व्यतीत होने के बाद उदीरणा होती है।

४ अभी तक तो मोहनीय कर्म की बध्यमान पुरुषवेद और संज्वलन कषाय चतुष्क इन पाँच प्रकृतियों का परस्पर एक दूसरे में संक्रम होता था किन्तु अब पुरुषवेद का संज्वलन क्रोधादि चार में, संज्वलन क्रोध का संज्वलन मान आदि तीन में संक्रम होता है, परन्तु पुरुषवेद में नहीं होता है। संज्वलन मान का संज्वलन माया और लोभ में संक्रम होता है, परन्तु पुरुषवेद और संज्वलन क्रोध में नहीं होता है। संज्वलन माया का संक्रम संज्वलन लोभ में होता है परन्तु पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध व मान में नहीं होता है और संज्वलन लोभ का किसी में भी संक्रम नहीं होता है अर्थात् संज्वलन लोभ के संक्रम का अभाव है।

५ अब जो मोहनीय कर्म का नया स्थितिबन्ध होता है, वह पूर्व-पूर्व के स्थितिबंध की अपेक्षा संख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् संख्यातभाग प्रमाण होता है।

६ शेष कर्मों का नया स्थितिबंध पूर्व-पूर्व के स्थितिबंध की अपेक्षा असंख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् असंख्यातभाग प्रमाण होता है।

७ द्वितीय स्थितिगत नपुंसकवेद के दलिकों को उपशमित करने की शुरुआत करता है। उसमें पूर्व-पूर्व समय से उत्तरोत्तर समय में असंख्यात-गुण उपशमित करता है और जिस समय जितना-जितना दलिक उपशमित करता है, उसकी अपेक्षा असंख्यातगुण पर-प्रकृति में संक्रमित करता है। इस तरह नपुंसक वेद को उपशमित करना द्विचरम समय तक समझना चाहिए, परन्तु चरम समय में तो जो अन्य प्रकृति में संक्रमित होता है, उस की अपेक्षा असंख्यातगुण उपशमित करता है।

यहाँ वेद्यमान समस्त कर्मों की ऊपर की स्थितियों में से प्रभूत दलिकों को उतारकर गुणश्रेणि में क्रमबद्ध स्थापित किये होने से और गुणश्रेणि की ऊपर की स्थितियों में दलिक अल्प होने से उदीरणा द्वारा अल्प दलिक उदय

में प्राप्त होते हैं और उसकी अपेक्षा स्वाभाविक रीति से उदय में आने वाले दलिक असंख्यातगुण होते हैं।

इस प्रकार से नपुंसकवेद का उपशम होने के बाद हजारों स्थितिघात प्रमाण काल में इसी क्रम से स्त्रीवेद का उपशम करता है। परन्तु स्त्रीवेद की उपशमन क्रिया के काल का संख्यातवां भाग जाने के बाद ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिकर्मों का स्थितिबंध संख्यातवर्ष प्रमाण करता है। तत्पश्चात् इन तीनों कर्मों का नया-नया स्थितिबंध पूर्व-पूर्व के स्थितिबंध की अपेक्षा संख्यातगुण हीन-हीन यानि संख्यातवें भाग प्रमाण करता है और अभी तक केवलज्ञानावरण के बिना ज्ञानावरणचतुष्क और केवलदर्शनावरण के बिना तीन दर्शनावरण इन सात प्रकृतियों का जघन्य द्विस्थानक रस बाँधता था, परन्तु उसके बदले जिस समय से ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध होता है, उस समय से एकस्थानक रसबन्ध होता है। उसके बाद हजारों स्थितिघात व्यतीत होने पर पूर्ण रूप से स्त्रीवेद उपशमित हो जाता है। स्त्रीवेद का उपशम होने के बाद तत्काल हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों की नपुंसकवेद की तरह एक साथ उपशम क्रिया प्रारम्भ होती है। इन सात प्रकृतियों की उपशम क्रिया के काल का एक संख्यातवां भाग जाने के बाद नाम और गोत्र इन दो कर्मों का स्थितिबन्ध संख्यात वर्ष प्रमाण और उस समय वेदनीय कर्म का स्थितिबन्ध असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है। परन्तु वेदनीय कर्म का वह असंख्यात वर्ष प्रमाण अन्तिम स्थितिबन्ध पूर्ण होने के बाद सभी कर्मों का स्थितिबन्ध संख्यात वर्ष प्रमाण होता है और अब पूर्व-पूर्व के स्थितिबन्ध की अपेक्षा प्रत्येक कर्म का नया स्थितिबन्ध संख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् संख्यातवें भाग प्रमाण होता है। उसके बाद हजारों स्थितिघात व्यतीत हों तब हास्यषट्क का सम्पूर्ण उपशम होता है और जिस समय हास्यषट्क का सम्पूर्ण उपशम होता है, उस समय पुरुषवेद की प्रथम स्थिति एक समय प्रमाण और द्वितीय स्थिति में समय न्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बन्धे दलिक को छोड़कर शेष सर्व दलिक उपशमित हो जाते हैं और उस समय पुरुषवेद का चरम स्थितिबन्ध सोलह वर्ष प्रमाण होता है।

पुरुषवेद की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण बाकी हो तब द्वितीय स्थिति में से उदीरणाप्रयोग द्वारा दलिक पुरुषवेद की उदयावलिका में

नहीं आते हैं, जिससे आगाल रुक जाता है, किन्तु उदीरणा चालू रहती है, तथा प्रथम स्थिति समय न्यून दो आवलिका प्रमाण शेष रहे तब पुरुषवेद अपतद्ग्रह होता है, जिससे उस समय से हास्यषट्क के दलिक पुरुषवेद में नहीं परन्तु संज्वलन क्रोधादि में संक्रमित होते हैं एवं एक समय प्रमाण पुरुषवेद की प्रथम स्थिति भोगने के बाद आत्मा अवेदक होती है और जिस समय आत्मा अवेदक होती है, उस समय द्वितीय स्थिति में दो समय न्यून दो आवलिका प्रमाण में बंधा हुआ पुरुषवेद का दलिक अनुपशांत होता है। क्योंकि जिस समय जो कर्म बँधता है अथवा अन्य प्रकृति में से संक्रमित होकर आता है, उस समय से एक आवलिका प्रमाण काल तक उसमें कोई करण नहीं लगता है। इसलिये बंधावलिका अथवा संक्रमावलिका व्यतीत होने के बाद दूसरी आवलिका के प्रथम समय से उसे संक्रमित अथवा उपशमित करने की क्रिया शुरू करता है और उसे सम्पूर्ण संक्रमित करते अथवा उपशमित करते दूसरी आवलिका पूर्ण हो जाती है, अर्थात् दूसरी आवलिका के चरम समय में सम्पूर्ण संक्रम या उपशम हो जाता है।

इसी प्रकार संज्वलन क्रोधादि चार कषायों का बंधविच्छेद से बाद के समय में दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बँधे क्रोधादि के दलिक भी अनुपशांत होते हैं और जिस समय पुरुषवेद का सोलह वर्ष प्रमाण बंध होता है उस समय चारों संज्वलन कषाय का संख्यात हजार वर्ष प्रमाण स्थितिबंध होता है।

अवेदक के प्रथम समय में दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बँधे पुरुषवेद का जो दलिक अनुपशांत है, उसे उसी समय न्यून दो आवलिका काल तक क्रमशः पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर के समय में असंख्यात गुणाकार रूप से उपशमित करता है और बध्यमान संज्वलन कषायों में यथाप्रवृत्त संक्रम द्वारा पहले समय में अधिक और उसके उत्तर-उत्तरवर्ती समय में विशेष हीन-हीन संक्रमित करता है। इस तरह जिस समय अवेदक होता है, उस समय से दो समयन्यून दो आवलिका के अन्त में पुरुषवेद सम्पूर्ण उपशांत होता है और उस समय चारों संज्वलन कषायों का स्थितिबंध बत्तीस वर्ष प्रमाण तथा मोहनीय के बिना शेष कर्मों का संख्यात हजार वर्ष प्रमाण होता है।

अवेदक के प्रथम समय से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और

संज्वलन इन तीनों क्रोध को एक साथ उपशमित करने की शुरुआत करता है और उत्तरोत्तर प्रत्येक समय असंख्यातगुण उपशांत करता है एवं इन तीनों क्रोधों की उपशमन क्रिया शुरू करता है उस समय जो स्थितिबंध होता है, उस स्थितिबंध के पूर्ण होने के बाद चारों संज्वलन कषायों का नया स्थिति-बंध संख्यातभाग हीन और शेष कर्मों का संख्यातगुण हीन यानि संख्यातवें भाग प्रमाण करता है।

संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका शेष रहने पर संज्वलन क्रोध अपतद्ग्रह होता है, जिससे उस समय से सत्तागत अन्य प्रकृतियों के दलिक संज्वलन क्रोध में संक्रमित नहीं होते हैं परन्तु मान आदि तीन में संक्रमित होते हैं। संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति दो आवलिका प्रमाण शेष रहे तब आगाल होना बंद हो जाता है और प्रथम स्थिति एक आवलिका बाकी रहे तब संज्वलन क्रोध के बंध-उदय-उदीरणा एक साथ विच्छिन्न होते हैं और उस समय अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध सम्पूर्ण उपशांत होता है और जिस समय संज्वलन क्रोध का बंधविच्छेद होता है उस समय प्रथम स्थिति में एक आवलिका और द्वितीय स्थिति में समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बंधे दलिक को छोड़कर शेष अन्य सब दलिक उपशमित हुआ होता है। प्रथम स्थितिगत आवलिका को स्तिबुक संक्रम से मान में, मान की प्रथम स्थितिगत आवलिका को माया में, माया की लोभ में और बादर लोभ की प्रथम स्थितिगत आवलिका को दसवें गुण-स्थान में किट्टियों में संक्रमित कर भोगकर दूर करता है।

क्रोध की द्वितीय स्थिति में बंधविच्छेद के बाद के समय में जो समय न्यून दो आवलिका प्रमाणकाल में बंधा दलिक अनुपशांत है उसे बंधविच्छेद के बाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल में पुरुषवेद की तरह उपशमित करता है और यथाप्रवृत्त संक्रम से बध्यमान प्रकृतियों में संक्रमित करके पूर्ण रूप से उपशांत करता है। इसी प्रकार मान और माया की द्वितीय स्थिति में बंधविच्छेद के बाद के समय के दलिक के लिये भी समझना चाहिए।

लोभ के बंधविच्छेद के बाद के समय में जो दो समयन्यून दो आव-लिका प्रमाण काल में बंधे दलिक अनुपशांत होते हैं, उनको दसवें गुणस्थान में उतने ही काल में पूर्णरूप से स्वस्थान में उपशमित करता है, परन्तु

मोहनीय कर्म की अन्य किसी प्रकृति का बंध नहीं होने से संक्रमित नहीं करता है।

संज्वलन क्रोध के बंधविच्छेद के समय चारों संज्वलन कषायों का स्थितिबंध चार मास प्रमाण और ज्ञानावरण आदि छह कर्मों का स्थिति-बंध संख्यात हजार वर्ष प्रमाण होता है। जिस समय संज्वलन क्रोध के बंधोदय उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके बाद के समय से मान की द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को आकृष्ट कर अन्तरकरण रूप खाली जगह में लाकर इस गुणस्थान में जितना काल मान के उदय का रहने वाला है, उससे एक आवलिका अधिक काल तक में पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यात गुणाकार दलिक स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाकर उनका उदय करता है।

संज्वलन मानोदय के प्रथम समय में मान आदि तीन का स्थितिबंध चार मास प्रमाण होता है और उसी समय से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन तीनों प्रकार के मान को उपशांत करना प्रारम्भ करता है। जब मान की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका रहती है तब संज्वलन मान अपतद्ग्रह हो जाता है, जिससे उस समय से अन्य प्रकृति के दलिक संज्वलन मान में संक्रमित नहीं होकर माया और लोभ में संक्रमित होते हैं और संज्वलन मान की प्रथम स्थिति दो आवलिका शेष रहे तब आगाल रुक जाता है और प्रथम स्थिति एक आवलिका शेष रहे तब अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का सम्पूर्ण रूप से उपशम हो जाता है और संज्वलन मान के बंध, उदय, उदीरणा का विच्छेद होता है और मान की प्रथम स्थिति में एक आवलिका और द्वितीय स्थिति में समयन्यून दो आवलिका काल में बंधे दलिक के बिना संज्वलन मान का भी सर्व दलिक उपशमित हुआ होता है।

संज्वलन मान के बन्धविच्छेद के समय संज्वलन मान आदि तीन कषाय का स्थितिबन्ध दो मास प्रमाण और शेष ज्ञानावरण आदि कर्मों का संख्यात वर्ष प्रमाण होता है। संज्वलन मान के बन्धविच्छेद के बाद के समय में संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को आकृष्ट कर नौवें गुणस्थान में जितने काल माया का उदय रहने वाला है, उतने से आवलिका अधिक काल प्रमाण अन्तरकरण रूप खाली स्थान में दलिकों को लाकर गुण-

श्रेणि के क्रम से उदयसमय से लेकर असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाकर उसका वेदन करता है।

मायोदय के प्रथम समय के अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन इन तीनों प्रकार की माया को उपशमित करने की शुरुआत करता है और संज्वलन माया की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका रहे तब संज्वलन माया अपतद्ग्रह होने से अन्य प्रकृति के दलिक उसमें संक्रमित नहीं होते हैं परन्तु लोभ में ही संक्रमित होते हैं तथा प्रथम स्थिति दो आवलिका शेष रहे तब आगाल और एक आवलिका शेष रहे तब बन्ध-उदय-उदीरणा का एक साथ विच्छेद होता है और उसी समय अप्रत्याख्यानीय और प्रत्याख्यानीय माया का सम्पूर्ण उपशम हो जाता है, परन्तु संज्वलन माया का प्रथम स्थिति में एक आवलिका और द्वितीय स्थिति में समयन्यून दो आवलिका प्रमाण काल में बन्धा दलिक अनुपशांत होता है और उस अनुपशांत दलिक को भी उस समय से समयोन दो आवलिका काल में उपशमित करता है।

संज्वलन माया के बन्धविच्छेद के समय संज्वलन माया और लोभ का एक मास प्रमाण तथा शेष कर्मों का संख्यात वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध होता है। मायोदय के विच्छेद के बाद के समय में लोभ के द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को खींचकर इसके बाद अब जितना काल लोभ के उदय का रहता है, उस काल के तीन भाग मान कर दो भाग प्रमाण काल में यानि नौवें गुणस्थान के काल से एक आवलिका अधिक काल प्रमाण अन्तरकरण रूप खाली स्थान में दलिकों को लाकर प्रथम समय से असंख्यात गुणाकार रूप से स्थापित कर प्रथमस्थिति बना उसका उदय शुरू करता है एवं संज्वलन माया के बन्धविच्छेद से बाद के समय में अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय और संज्वलन इन तीनों लोभ को उपशमित करने की शुरुआत करता है तथा संज्वलन की प्रथम स्थिति समयन्यून तीन आवलिका बाकी रहे तब संज्वलन लोभ अपतद्ग्रह होने से दोनों लोभ को स्वस्थान में ही उपशमित करता है परन्तु पतद्ग्रह के अभाव में संक्रमित नहीं करता है और नौवें गुणस्थान के चरम समय में अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय लोभ पूर्ण उपशमित हो जाता है।

जिस समय संज्वलन लोभ का उदय होता है उस समय से लोभ के उदय काल के तीन विभाग करता है और उनमें से प्रथम दो भाग में दलिकों को स्थापित करता है, यह पूर्व में कहा जा चुका है। उनमें लोभ के वेदन के पहले

भाग का अश्वकर्णकरणाद्धा, दूसरे भाग का किट्टिकरणाद्धा और तीसरे भाग का नाम किट्टीवेदनाद्धा है। इनमें से संख्याते स्थितिघात प्रमाण अश्वकर्णकरणाद्धा काल में द्वितीय स्थिति में रहे संज्वलन लोभ के दलिकों के प्रत्येक समय अपूर्वस्पर्धक करता है। अर्थात् अनादि संसार में बन्ध द्वारा किसी भी समय संज्वलन लोभ के न किये हों वैसे इस समय बध्यमान लोभ के रसस्पर्धकों के समान सत्तागत दलिकों के रसस्पर्धकों में से कितने ही नये रस स्पर्धक बनाता है, यानि प्रवर्धमान रसाणुओं का क्रम तोड़े बिना सत्तागत रसस्पर्धकों को अनन्तगुण हीन रस वाला कर नवीन रसस्पर्धक बनाता है और वे ही अपूर्वस्पर्धक कहलाते हैं। तत्पश्चात लोभ वेदन करने के दूसरे भाग में प्रवेश करता है और वही किट्टिकरणाद्धा का काल है। उस किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय में संज्वलन लोभ का स्थितिबन्ध दिवसपृथक्त्व और शेष कर्मों का वर्ष पृथक्त्वप्रमाण होता है।

किट्टिकरणाद्धा के प्रथम समय से चरम समय तक प्रत्येक समय द्वितीय स्थिति में रहे हुए संज्वलन लोभ के पूर्व और अपूर्व स्पर्धकों में से कितनेक दलिकों को ग्रहण कर उनमें से अनन्त-अनन्त किट्टियां बनाता है। अर्थात् पूर्व में प्रवर्धमान रसाणुओं के क्रम का त्याग किये बिना अनन्तगुण हीन रस वाले अपूर्वस्पर्धक किये थे परन्तु अब विशुद्धि का परम प्रकर्ष होने से एकोत्तर प्रवर्धमान रसाणुओं का क्रम तोड़कर अपूर्वस्पर्धक करने पर भी अनन्तगुण हीन रस करता है।

एक रसस्पर्धक में जितनी वर्गणायें होती हैं उनके अनन्तवें भाग जितनी किट्टियां प्रथम समय में बनाता है। प्रथम समय में बनायी हुई किट्टियों की अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियां बनाता है। इस तरह किट्टिकरणाद्धा के चरम समय तक पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में असंख्यातगुण हीन-हीन अर्थात् असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियां बनाता है और सर्वोत्कृष्ट रसवाली किट्टियों का रस भी सर्व जघन्य रसस्पर्धक के रस से अनन्तगुण हीन अर्थात् अनन्तवें भाग जितना होता है।

पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में अनन्तगुण विशुद्धि होती है एवं तथास्वभाव से ही अधिक रस वाले कर्म परमाणु अल्प और अल्परस वाले कर्म परमाणु अधिक होते हैं, जिससे प्रथम समय की गई सभी

किट्टियों में रस की अपेक्षा दूसरे समय में की गई किट्टियों में रस अनन्तगुण हीन यानि अनन्तवें भाग प्रमाण होता है और उससे भी तीसरे समय में की गई किट्टियों में रस अनन्तगुण हीन होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में की गई किट्टियों में क्रमशः अनन्तगुण हीन-हीन रस होता है।

प्रथम समय की गई सभी किट्टियों का दलिक बाद के समय की गई किट्टियों के दलिक की अपेक्षा अल्प होता है और प्रथम समय की समस्त किट्टियों के दलिक से दूसरे समय की गई किट्टियों का दलिक असंख्यात-गुण, उससे भी तीसरे समय की गई किट्टियों का दलिक असंख्यातगुण होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व समय की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के समय में की गई किट्टियों का दलिक क्रमशः असंख्यात असंख्यात गुण होता है।

यह अल्पबहुत्व तो हुआ पूर्व-पूर्व के समय से उत्तर-उत्तर के समय में की गई किट्टियों के रस और दलिकों का तथा प्रत्येक समय की गई किट्टियों का परस्पर अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिए—

प्रथम समय में की गई अनन्त किट्टियों में से सब से अल्परस वाली जो किट्टि है, उसे प्रथम स्थापन कर उसके बाद उत्तरोत्तर प्रवर्धमान अधिक रसवाली प्रथम समय की गई सभी किट्टियों का अनुक्रम से स्थापन करें तो प्रथम किट्टि में सबसे अल्प रस होता है, उससे दूसरी किट्टि में अनन्तगुण, उससे तीसरी में अनन्तगुण इस प्रकार पूर्व-पूर्व किट्टि की अपेक्षा आगे-आगे की किट्टि में अनन्तगुण रस होता है और उसी प्रथम समय की गई अनन्त किट्टियों में की जो सर्वाल्प रस वाली प्रथम किट्टि है, उसमें उसी प्रथम समय की गई अन्य किट्टियों के दलिक की अपेक्षा अधिक दलिक होते हैं और अनन्तगुण अधिक रस वाली आगे-आगे की किट्टि में विशेष हीन-हीन दलिक होते हैं।

इसी प्रकार किट्टिकरणाद्धा के चरम समय तक की जाने वाली किट्टियों के विषय में जानना चाहिए। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि प्रथम समय की गई किट्टियों में की जो किट्टि अबसे अल्प रस वाली है, वह भी दूसरे समय की गई किट्टियों में की सबसे अधिक रस वाली किट्टि की अपेक्षा अनन्तगुण अधिक रस वाली है और दूसरे समय की गई किट्टियों में की जो

किट्टि सबसे अल्प रस वाली है, वह भी तीसरे समय की गई सबसे अधिक रस वाली किट्टि की अपेक्षा भी अनन्तगुण रस वाली है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व के समय में की गई किट्टियों में की जो किट्टि सबसे अल्प रस वाली है, वह भी आगे-आगे के समय में की गई सबसे अधिक रसवाली किट्टि की अपेक्षा अनन्तगुण रस वाली होती है।

प्रथम समय में की गई किट्टियों में की जो किट्टि सबसे अल्प रस और बहुत प्रदेश वाली है उसके दलिक की अपेक्षा भी दूसरे समय की गई किट्टियों में जो सबसे अधिक रस और अल्प प्रदेश वाली है, वह भी असंख्यातगुण दलिक वाली है। उसकी अपेक्षा तीसरे समय की गई किट्टियों में जो किट्टि सबसे अधिक रस और अल्प दलिक वाली है, वह भी असंख्यातगुण दलिक वाली है, उसकी अपेक्षा चौथे समय की गई किट्टियों में जो किट्टि सबसे अधिक रस और अल्प प्रदेश वाली है, वह भी असंख्यातगुण प्रदेश वाली है। इस प्रकार चरम समय तक समझना चाहिए।

किट्टिकरणाद्धा के बहुत से संख्यात भाग जायें तब संज्वलन लोभ का स्थिति-बंध अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का दिवसपृथक्त्व और शेष तीन कर्म का प्रभूत हजारों वर्ष प्रमाण होता है और वह भी हीन-हीन होते किट्टिकरणाद्धा के चरम समय में यानि नौवें गुणस्थान के चरम समय में अभी बताये गये अन्तर्मुहूर्त की अपेक्षा संज्वलन लोभ का बहुत ही छोटे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का एक अहोरात्र प्रमाण और शेष तीन कर्म का कुछ न्यून दो वर्ष प्रमाण स्थिति-बंध होता है और उसके बाद के समय में जीव दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है।

जिस समय दसवें गुणस्थान में प्रवेश करता है उस समय लोभ वेदनाद्धारूप संज्वलन लोभ की दो तृतीयांश भाग प्रमाण की गई प्रथम-स्थिति की एक आवलिका और चरम दो समयन्यून दो आवलिका प्रमाणकाल में बंधे एवं किट्टिकरणाद्धा में की गई किट्टियों के सिवाय शेष संज्वलन लोभ का सर्व दलिक उपशांत होता है और किट्टिकरणाद्धा में द्वितीय स्थिति में जो किट्टियाँ की हैं उनमें से दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में कितनी ही किट्टियों को आकर्षित कर अन्तरकरण रूप खाली स्थान के काल प्रमाण काल में स्थापित कर प्रथम स्थिति बनाता है और भोगता है एवं उसी समय

से नौवें गुणस्थान के अन्तिम समय न्यून दो आवलिका काल में बंधे हुए संज्वलन लोभ को दो समय न्यून दो आवलिका काल में स्वस्थान में उपशांत करता है, एवं किट्टिकरणाद्धा की बाकी रही संज्वलन लोभ की आवलिका को स्तिबुक संक्रम से प्रथम स्थिति में संक्रमित कर आवलिका प्रमाण काल में भोगकर क्षय करता है।

दसवें गुणस्थान के प्रथम समय में किट्टिकरणाद्धा के पहले और अन्तिम समय में की कई किट्टियों के सिवाय शेष समय में की गई प्रत्येक किट्टियों के कितने ही दलिक उदय में आ जायें इस रीति से स्थापित करता है और प्रथम समय में की गई किट्टियों के ऊपर का असंख्यातवां भाग छोड़कर शेष किट्टियाँ उदीरणा द्वारा प्रथम समय में उदय में आती हैं। दूसरे समय उदयप्राप्त किट्टियों का असंख्यातवां भाग बिना भोगे ही उपशमित करता है और द्वितीय स्थिति में से उदीरणा द्वारा एक असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियों को अनुभव करने के लिये ग्रहण करके उदयसमय में स्थापित कर भोगता है। इस प्रकार इस गुणस्थान के अन्तिम समय तक प्रत्येक समय उदयप्राप्त किट्टियों का एक-एक असंख्यातवां भाग अनुभव किये बिना उपशमित करता है और द्वितीय स्थिति में से उदीरणा द्वारा अपूर्व असंख्यातवें भाग प्रमाण किट्टियों को ग्रहण कर अनुभव करने के लिये उदय-समय से स्थापित करता है।

इस गुणस्थान के प्रथम समय से चरम समय तक द्वितीय स्थिति में जो सूक्ष्म किट्टिकृत दलिक अनुपशांत हैं, उसे भी पूर्व-पूर्व के समय से आगे-आगे के समय में असंख्यात गुणाकार रूप से उपशमित कर चरम समय में सम्पूर्ण उपशांत कर लेता है। इस गुणस्थान के चरम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण, नाम और गोत्र कर्म का सोलह मुहूर्त और वेदनीय का चौबीस मुहूर्त प्रमाण स्थितिबंध होता है। उसके बाद के समय में आत्मा ग्यारहवें उपशांतमोहगुणस्थान में प्रवेश करती है। इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण उपशांत हुआ होने से उसका अनुदय होता है। इस गुणस्थान का काल मरण की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

इस गुणस्थान में मोहनीय कर्म का सर्वथा उपशम होने से उसकी सत्तागत किन्हीं भी प्रकृतियों में संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, निद्धत्ति

और निकाचना इन छह में से कोई भी करण नहीं लगता है तथा इस अन्तर्मुहूर्त काल में मोहनीय कर्म की किसी भी प्रकृति का उदय भी नहीं होता है, मात्र सत्तागत मिथ्यात्व और मिश्र का संक्रम और दर्शन मोहत्रिक की अपवर्तना होती है।

यह क्रोधोदय से श्रेणि मांड़ने वाले की अपेक्षा समझना चाहिए। मानोदय से श्रेणि मांड़ने वाले को नपुंसकवेद की तरह तीनों क्रोध एक साथ उपशांत होते हैं। मायोदय से श्रेणि पर आरूढ़ होने वाले को पहले तीन क्रोध, बाद में तीन मान तथा इसी प्रकार लोभोदय से श्रेणि मांडने वाले को पहले तीन क्रोध, फिर तीन मान और इसके बाद तीन माया उपशांत होती हैं और लोभ को तो पहले की तरह ही उपशमित करता है।

क्रोधोदय से श्रेणि मांड़ने वाले को जहाँ क्रोध का बंधविच्छेद होता है, उसी स्थान पर मान से श्रेणि मांड़ने वाले के भी क्रोध का बंधविच्छेद होता है और जिस समय क्रोध का बंधविच्छेद होता है, उसी समय समयन्यून दो आवलिका काल में बंधा हुआ क्रोध जो अनुपशांत होता है, उसको बाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल में क्रोधोदय से श्रेणि मांड़ने वाले की तरह उपशमित करता है और यथाप्रवृत्त संक्रम से संक्रमित करता है।

इसी तरह मायोदय से श्रेणि मांड़नेवाले को भी जिस स्थान पर क्रोध का बंधविच्छेद होता है, उसी स्थान पर क्रोध का और जिस जगह मान का बंधविच्छेद होता है उसी जगह मान का और लोभोदय से श्रेणि मांड़ने वाले को क्रोधादि तीन का क्रोधोदय से श्रेणि मांड़ने वाले को जिस-जिस स्थान पर बंध-विच्छेद होता है, उसी-उसी स्थान पर ही क्रमशः संज्वलन क्रोध, मान और माया का बंध-विच्छेद होता है और अपने-अपने बंध-विच्छेद के समय समयन्यून दो आवलिका काल में बंधी हुई उस-उस कषाय का जो दलिक अनुपशांत होता है उसे अपने-अपने बंध-विच्छेद से बाद के समय से दो समयन्यून दो आवलिका काल में पहले के तरह ही उपशमित करता है और यथाप्रवृत्त संक्रम से संक्रमित करता है।

अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ग्यारहवें गुणस्थान का काल पूर्ण होने के पहले ही यदि मनुष्य भव का आयुष्य पूर्ण हो जाये तो काल करके सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है और वह भव के क्षय से पतन हुआ कहलाता है और मरण

के चरम समय तक ग्यारहवां गुणस्थान होता है परन्तु देवभव के प्रथम समय में ही मध्य के छह गुणस्थानों का स्पर्श किये बिना चौथे गुणस्थान को प्राप्त होता है और उस समय से सभी करण प्रवृत्त होते हैं।

देवभव के प्रथम समय में जिस-जिस जीव के चारित्रमोहनीय की जिस-जिस प्रकृति का उदय होता है उस-उस कर्म प्रकृति की द्वितीय स्थिति में जो प्रथम दलिक उपशांत हुए थे, उनमें से अपवर्तना द्वारा अन्तरकरण रूप खाली स्थान में दलिक लाकर उदयसमय से आवलिका प्रमाण काल में गोपुच्छकार और आवलिका से ऊपर प्रथम समय से गुणश्रेणि के शीर्ष तक असंख्यात गुणाकार रूप से और उसके बाद पुनः विशेष हीन-हीन स्थापित करता है तथा मोहनीय कर्म की जो प्रकृतियाँ देवभव के प्रथम समय में उदय में नहीं आती हैं, उन प्रकृतियों के दलिकों को द्वितीय स्थिति में से अपवर्तनाकरण द्वारा अन्तरकरण रूप खाली स्थान में लाकर उदयावलिका के ऊपर के प्रथम समय से गुणश्रेणि के शीर्ष तक असंख्यात गुणाकार और उसके ऊपर विशेष हीन-हीन स्थापित करता है और उससे प्रथम समय में जो अन्तरकरण रूप खाली स्थान था वहाँ भी पुनः दलिक स्थापित हो जाने से और खाली स्थान के भर जाने से अन्तरकरण नहीं रहता है।

आयुष्य पूर्ण न हो तो भी इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होने से उसके पूर्ण होने पर जीव अवश्य गिरता है और वह अद्धाक्षय रूप पतन कहलाता है। जिस से जिस क्रम से चढ़ा था उसी क्रम से यानि ग्यारहवें से दसवें, नौवें, आठवें गुणस्थान में आकर वहाँ से सातवें और छठे गुणस्थान में हजारों बार परिवर्तन कर स्थिर होता है और कोई जीव पाँचवें, कोई चौथे गुणस्थान में आकर स्थिर होता है और कोई-कोई वहाँ से गिरकर पहले गुणस्थान में भी जाता है।

अद्धाक्षय से गिरने पर क्रमशः प्रथम संज्वलन लोभ, अनन्तर माया, मान और क्रोध का उदय होता है और जिस-जिस प्रकृति का जिस-जिस समय उदय होता है, उस समय उसकी द्वितीय स्थिति में रहे दलिकों को आकर्षित कर आवलिका प्रमाण काल में गोपुच्छाकार और उसके बाद गुणश्रेणि के शीर्ष भाग तक असंख्यात गुणाकार रूप और बाद में पुनः हीन-हीन दलिक स्थापित करता है एवं अवेद्यमान मोहनीय कर्म की अन्य प्रकृतियों के द्वितीय स्थिति में रहे हुए दलिकों को जब-जब अनुपशांत करे तब-तब उदयावलिका

के ऊपर प्रथम स्थिति से गुणश्रेणि शीर्ष तक असंख्यात गुणाकार रूप से और बाद में हीन-हीन स्थापित करता है एवं स्थितिघात आदि चढ़ते समय जैसे होते थे वैसे गिरते समय भी विपरीत क्रम से होते हैं अर्थात् चढ़ते समय क्रमशः स्थितिघात आदि जो अधिक-अधिक होते थे वे गिरते समय अल्प-अल्प प्रमाण में होते हैं और चढ़ते समय जिस-जिस स्थान में जिस-जिस प्रकृति का बंध, उदय, देशोपशम, निद्धत्ति और निकाचना-करण का विच्छेद हुआ था उसी प्रकार से गिरते समय उस-उस स्थान में वे सब पुनः प्रारम्भ हो जाते हैं, परन्तु चढ़ते समय अन्तरकरण करने के बाद पुरुषवेद और चार संज्वलन का संक्रम जो क्रमशः ही होता था और लोभ के संक्रम का सर्वथा अभाव था एवं बध्यमान कर्म की जिस समय छह आवलिका के बाद उदीरणा होती थी उसके बदले गिरते समय पुरुषवेद और चार संज्वलन का परस्पर पांचों का पांच में संक्रम होता है, संज्वलन लोभ का भी संक्रम होता है और बध्यमान कर्मलता की बंधावलिका के बाद उदीरणा भी होती है एवं चढ़ते समय गुणश्रेणि की रचना के लिये प्रति समय ऊपर की स्थितियों में से असंख्यातगुण दलिक उतरते थे, उसके बदले गिरते समय प्रत्येक असंख्यातगुण हीन-हीन दलिक उतरते हैं और पूर्व की तरह स्थापित होते हैं।

क्षपक श्रेणि में जिस-जिस स्थान पर जिस-जिस प्रकृति का जितना स्थितिबंध होता है उसकी अपेक्षा चढ़ते समय उपशम श्रेणि में उस-उस स्थान पर दुगुना और गिरते समय उस-उस स्थान में उससे भी दुगुना अर्थात् क्षपक श्रेणि से चौगुना स्थितिबंध होता है।

क्षपक श्रेणि में जिस-जिस स्थान पर शुभ और अशुभ प्रकृतियों का जितना रसबंध होता है, उसकी अपेक्षा उपशम श्रेणि में चढ़ते समय क्रमशः अनन्तगुण हीन और अनन्तगुण अधिक और गिरते समय उससे भी शुभ का अनन्तगुण हीन और अशुभ का अनन्तगुण अधिक रसबंध होता है।

श्रेणि पर से गिरता जीव मोहनीय-प्रकृतियों को गुणश्रेणि काल की अपेक्षा वेद्यमान संज्वलन के काल से अधिक काल वाली बनाता है और चढ़ने के काल की गुणश्रेणि की अपेक्षा तुल्य बनाता है। जिस कषाय के उदय से उपशम श्रेणि पर आरूढ़ हुआ था, गिरते समय जब उस कषाय

का उदय होता है तब उस कषाय की गुणश्रेणि शेष कर्म की गुणश्रेणि के समान करता है।

तीन आयु के बिना देवायु को बांधकर अथवा किसी भी आयु को बांधे बिना आत्मा उपशम श्रेणि कर सकती है, इसलिये यदि बद्धायुष्क उपशम श्रेणि करे और उपशम सम्यक्त्व के काल में चाहे किसी भी गुणस्थान में काल करे तो अवश्य वैमानिक देव में ही उत्पन्न होता है और यदि अबद्धायुष्क हो तो अन्तरकरण पूर्ण होने के बाद यानि उपशम सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने के बाद परिणामों के अनुसार चार में से किसी भी आयु को बांधकर काल कर उस-उस गति में जाती है।

एक बार एक भव में उपशम श्रेणि कर दूसरी बार क्षपक श्रेणि कर आत्मा मोक्ष में भी जा सकती है और यदि क्षपक श्रेणि न करे तो एक भव में दो बार उपशम श्रेणि कर सकती है परन्तु दो बार उपशम श्रेणि करने के बाद उसी भव में क्षपक श्रेणि नहीं कर सकती है। सम्पूर्ण भव चक्र में उपशम श्रेणि चार बार कर सकती है परन्तु सिद्धान्त के मतानुसार एक भव में क्षपक अथवा उपशम इन दोनों में से एक ही श्रेणि कर सकती है जिससे एक भव में उपशम श्रेणि की हो तो उस भव में क्षपक श्रेणि नहीं कर सकती है।

इस प्रकार पुरुषवेद के उदय में श्रेणि पर आरूढ़ होने वाले की अपेक्षा जानना चाहिए। परन्तु स्त्रीवेद के उदय में श्रेणि मांड़ने वाला पहले नपुंसक वेद को उपशमित करता है। उसके बाद एक उदयसमय को छोड़कर सम्पूर्ण स्त्रीवेद को उपशमित करता है और स्त्रीवेद के उदय के विच्छेद के साथ ही पुरुषवेद का बंधविच्छेद होता है। उसके बाद के समय में अवेदक हुआ वह आत्मा हास्यषट्क और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों को एक साथ उपशमित करता है।

नपुंसकवेद के उदय से श्रेणि मांड़ने वाला पहले पुरुषवेद अथवा स्त्रीवेद से श्रेणि मांड़ने वाला जिस स्थान पर नपुंसकवेद को उपशमित करता है, वहाँ तक तो मात्र नपुंसकवेद को उपशमित करने की क्रिया करता है, परन्तु नपुंसकवेद का अमुक उपशम होने के बाद उसके साथ ही स्त्रीवेद को भी उपशमित करने की क्रिया करता है और नपुंसकवेद के उदय के चरम समय में

नपुंसकवेद तथा स्त्रीवेद दोनों एक साथ सम्पूर्ण उपशांत हो जाते हैं और उसी समय पुरुषवेद का बन्धविच्छेद होता है और बाद के समय से अवेदक होकर हास्यषटक् और पुरुषवेद इन सात प्रकृतियों को एक साथ उपशमित करता है। उसके बाद तो पुरुषवेदोदय में श्रेणी पर आरूढ़ होने वाला क्रोधादि को जैसे उपशमित करता है उसी प्रकार यहाँ भी उपशांत करता है।

इस प्रकार से चारित्र मोहनीय की सर्वोपशमना विधि जानना चाहिये। प्रस्तुत कथन विहंगावलोकनमात्र है। विस्तृत वर्णन ग्रंथ में देखिये।

□□

परिशिष्ट : ६

भिन्न कषाय एवं वेद के उदय से श्रेणिआरोहण क्रम

संज्वलन क्रोधोदय द्वारा—

संज्वलन क्रोध का वेदन करते हुए क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानत्रिक को (क्रोधवत्), तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

संज्वलन मानोदय द्वारा—

संज्वलन मान का वेदन करते हुए क्रोधत्रिक को (नपुंसक वेदवत्), तदनन्तर मानत्रिक को, तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

संज्वलन मायोदय द्वारा—

संज्वलन माया का वेदन करते हुए पहले क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानत्रिक को, तदनन्तर मायात्रिक को, तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

संज्वलन लोभोदय द्वारा—

संज्वलन लोभ का वेदन करते पहले क्रोधत्रिक को, तदनन्तर मानत्रिक को, तदनन्तर मायात्रिक को और तदनन्तर लोभत्रिक को उपशमित करता है।

पुरुषवेदोदय से श्रेणि-आरंभक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुंसकवेद को उपशमित करता है, उसके बाद अन्तर्मुहूर्त के अनन्तर स्त्रीवेद को, तत्पश्चात एक समय के अनन्तर पुरुषवेद, हास्यषट्क की उपशमना का प्रारम्भ। उसके बाद हास्यषट्क का उपशम होता है और पुरुषवेद की एक स्थिति शेष रहती है। तत्पश्चात पुरुषवेदोदय की उपशान्ति; तत्पश्चात उदयावलिका और समयोन आवलिकाद्विकबद्ध को छोड़कर समस्त पुरुषवेद का उपशम होता है।

स्त्रीवेदोदय से श्रेणि-आरंभक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुंसकवेद को, तत्पश्चात स्त्रीवेद को उपशमित करता है। उसके बाद समयानन्तर पुरुषवेद, हास्यषट्क की उपशमना का प्रारम्भ होता है और उसके बाद की शेष विधि पुरुषवेदवत् समझना चाहिये।

नपुंसकवेदोदय से श्रेणि-आरंभक की अपेक्षा—

सर्वप्रथम नपुंसकवेद की उपशमना प्रारम्भ होती है, उसके बाद नपुंसक और स्त्रीवेद को उपशमित करता है, तदनन्तर स्त्रीवेद उपशान्त होता है और नपुंसकवेद की एक स्थिति अवशिष्ट रहती है। उसके बाद समयानन्तर नपुंसकवेद उपशमित हो जाता है। उसके बाद समयानन्तर पुरुषवेद हास्य-षट्क की उपशमना प्रारम्भ होती है। शेष विधि पुरुषवेदवत् समझना चाहिये।

□□